प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक का छठा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। पाठक जानते हैं कि इस पुस्तक के लेखक को गांधीजी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला था और यह सम्पर्क बहुत वर्षों तक बना रहा था। इस दीर्घकालीन निकटता के फलस्वरूप वे इस पुस्तक में बहुत-से महत्वपूर्ण संस्मरण दे सके हैं, जो दिलचस्प रहने के साथ-साथ सदा प्रेरणादायक रहेंगे। भाषा-शैली के प्रवाह ने इन संस्मरणों को और भी सजीव बना दिया है। कहीं-कहीं पर गांधीजी के विचारों एवं सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। उससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

पुस्तक गांधीजी के जीवन-काल में प्रकाशित हुई थी। उसे पढ़कर उन्होंने लेखक को जो पत्र भेजा था उसे नीचे दिया जाता है।

सेवाग्राम २२-७-४१

भाई घनश्यामदास,

'बापू' अभी पूरी की। दो-तीन जगह हकीकत दोष है। अभिप्राय को हानि नहीं पहुंचती है। निकाली भी है।

बछड़ा के बारे में जो दलील की है वह कर सकते हैं लेकिन उसमें कुछ नैतिक दोष पाता हूं। जो रावणादि के वध के साथ यह वध किसी प्रकार मिलता नहीं है, बछड़े के वध में मेरा कुछ स्वार्थ नहीं था। केवल दुःख मुक्त करना ही कारण था। रावणादि के वध में तो लौकिक स्वार्थ था पृथ्वी पर भार था उसे हल्का करना था। उसका संहारक साक्षात् रामरूपी ईश्वर था। यहां तो संहारक कोई काल्पनिक अवतार न था। मेरा तो कथन यह है कि मेरी हालत में सब कोई ऐसा कर सकते हैं। अंबालाल ने ४ कुत्तों को मेरी प्रेरणा या प्रोत्साहन से मारे इसमें लौकिक कल्याण था सही। लेकिन इसमें और रावणादि के वध में बड़ा अंतर है। और मैंने तो इन चीजों का व्यापक अर्थ किया है। उसकी चर्चा यहां

आवश्यक थी। ज्यादा और कोई शब्द आवश्यक समझा जाय तो।

भाषा मधुर है। कोई जगह दलील की पुनरुक्ति हो गई है। यह काम प्रूफ सुधार में हो सकता था। उससे भाषा के प्रवाह में कुछ क्षति नहीं आती। शायद दूसरे तो इस पुनरुक्ति को देख भी नहीं सके होंगे।

बापू के आशीर्वाद

इस पत्र से एक विशेष प्रसंग पर सहज ही और अधिक प्रकाश पड़ जाता है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अब और भी लोकप्रिय होगी और अधिक-से-अधिक पाठकों के हाथों में पहुँचेगी।

—मंत्री

आदि वचन

यदि भगवद्गीता के बारे में लिखना आसान हो, तो गांधीजी के बारे में भी लिखना आसान हो सकता है, क्योंकि भगवद्गीता पर लिखा हुआ भाष्य न केवल गीता-भाष्य होगा बल्कि भाष्यकार के जीवन का वह दर्पण भी होगा। जैसे गीता-रहस्य लोकमान्य के जीवन का दर्पण है वैसे ही अनासक्ति-योग गांधीजी के जीवन का दर्पण है। ठीक उसी तरह गांधीजी के जीवन की समीक्षा करने में लेखक अपने जीवन का चित्र भी उसी समीक्षा के दर्पण में खींच लेता है।

एक बात और। जैसे गीता सबके लिए एक खुली पुस्तक है, उसी तरह गांधीजी का जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीता को बड़े-बड़े विद्वान् तो पढ़ते ही हैं, हजारों भावुक लोग भी, जो प्रायः निरक्षर होते हैं उसे प्रेम से पढ़ते हैं। गांधीजी के जीवन की—विशेषतः उनकी आत्मकथा की—भी यही बात है। जैसे गीता सबके काम की चीज है, वैसे गांधीजी भी सबके काम के हैं। गीता से बड़े विद्वान् अधिक लाभ उठाते हैं या निरक्षर किन्तु भावुक भक्त अधिक उठाते हैं, यह विचारने योग्य प्रश्न है। यही बात गांधीजी के विषय में भी है। उनके जीवन को—उनके सिद्धान्तों को—समझने के लिए न तो विद्वत्ता की आवश्यकता है, न लेखनशक्ति की। उसके लिए तो हृदय चाहिए। मुझे पता नहीं, श्री घनश्यामदासजी का नाम विद्वानों या लेखकों में गिना जाता है या नहीं किन्तु भक्तों में तो गिना ही जाता है। परन्तु उन्होंने धन की माया से अलिप्त रहने और अपने हृदय को स्फटिक-सा निर्मल या बुद्धि एवं वाणी को सत्यपूत रखने का यथाशक्य प्रयत्न किया है। और उस हृदय बुद्धि और वाणी से की गई यह समीक्षा, बिड़लाजी भले अच्छे विद्वान् या लेखक न माने जाते हों तो भी समीक्षा की उत्तम पुस्तकों में स्थान पायेगी और हिन्दी के उत्कृष्ट लेखकों में उनकी गणना करायेगी।

यों तो भी घनश्यामदासजी की लेखन-शक्ति का परिचय जितना मुझे

मामूली-सी है, परन्तु उसमें से गांधीजी के जीवन की एक कुंजी उन्हें मिल जाती है। "पता नहीं कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनों को उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कुतूहल की सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे वैसे ही आज भी हैं।" यह सही है, पर इस पुस्तक में हम देखते हैं कि उनके जीवन की कई पहेलियाँ घनश्यामदासजी ने अच्छी तरह सुलझाई हैं।

गीता इतना सीधा-सादा और लोकप्रिय ग्रंथ होने पर भी पहेलियों से भरा हुआ है। इसी तरह गांधीजी का जीवन भी पहेलियों से भरा पड़ा है। कुछ रोज पहले रामकृष्ण-मठ के एक स्वामी जी यहाँ आये थे। बड़े सज्जन थे। गांधीजी के प्रति बड़ा आदर रखते थे और गांधीजी की ग्रामोद्योग-प्रवृत्ति अच्छी तरह समझने के लिए और कातने-बुनने की क्रिया सीखकर अपने समाज में उसका प्रचार करने के लिए वह यहाँ आये थे। एक रोज मुझसे वह पूछने लगे, "गांधीजी के जीवन की एकाग्रता देखकर मैं आश्चर्य-चकित होता हूँ और उनकी ईश्वर-श्रद्धा देखकर भी। क्या गांधीजी कभी भाव-वेश में आ जाते हैं? क्या दिन में किसी समय वह ध्यानावस्थित होकर बैठते हैं?" मैंने कहा—"नहीं।" उनके लिए यह बड़ी पहेली हो गई कि ऐसे कोई बाह्य चिह्न न होते हुए भी गांधीजी बड़े भक्त हैं और योगी हैं। गांधीजी के जीवन में ऐसी कई पहेलियाँ हैं। उनमें से अनेक पहेलियों को हल करने का उत्तम प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

एक उदाहरण लीजिए। अहिंसा से क्या सब वस्तुओं की रक्षा हो सकती है? यह प्रश्न अक्सर उपस्थित किया जाता है। इस प्रश्न का कैसी सुन्दर भाषा में बिड़लाजी ने उत्तर दिया है

"धन-सम्पत्ति-संग्रह माल-असबाब इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है? हाँ भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपभोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं सम्भव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहाँ? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या

रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े।

निर्योगक्षेम आत्मवान् —गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी को भी गृहस्थ धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं, वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके संबंध में उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों जो सब तरह से त्यागी हों, और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो किसीके संग्रह की भी वे रक्षा कर सकें।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं खड़ा कर सकते [illegible] वैसा नहीं लूट सकते। इंग्लैंड ने अमेरिका में जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

इसका मतलब यह है कि अहिंसा से हम धन की रक्षा कर सकते हैं पाप की नहीं। और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है तो संग्रह की भी नहीं। *अहिंसा के [illegible] हैं वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे ? अहिंसा का*

यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम कर लें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं। और यदि वह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

"यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि 'धर्म क्या है, अधर्म क्या है? पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहाँ कठिनता हुई है?

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ
हौं बौरी डूबन डरी रही किनारे बैठ।

"असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूँकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।"

इसी तरह जितने प्रश्न विनोबाजी ने उठाये हैं उन सबकी चर्चा सूक्ष्म अवलोकन और चिंतन से भरी हुई है। उनके धर्म-चिंतन और धर्मग्रंथों के अध्ययन का तो मुझे तनिक भी खयाल नहीं था। इस पुस्तक से उसका पर्याप्त परिचय मिलता है। गीता के कुछ श्लोक जो जहाँ-तहाँ उन्होंने उद्धृत किये हैं उनका रहस्य खोलने में उन्होंने जितनी मौलिकता दिखाई है।

विनोबाजी की किफायती और चुभ जानेवाली शैली के तो हमको स्थान-स्थान पर प्रमाण मिलते हैं: "असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही साधन है और स्वयं ही उसका चालक है।" "मैले कपड़े की गंदगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुन का क्या काम? वहाँ तो कीचड़ की जरूरत है।" "आकाशवाणी अन्य चीजों की तरह पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं। "सरकार ने हमें शांति दी, रक्षा दी परतंत्रता दी, गुनाहों से भी वही निवृत्त क्यों न करे? "सूरज से पूछो कि आप सर्दी में हर्षितानन और गर्मी में

रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े।

'निर्योगक्षेम आत्मवान्' —गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी यह धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके संबंध में उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों, और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके संग्रह की भी वे रक्षा कर सकें।

"पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। उदाहरण हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते किसीका देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

"इसके माने यह है कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसा का

सकता है—राम कृष्ण कर सकते हैं। परन्तु राम और कृष्ण, गांधीजी के अभिप्राय में यहां ईश्वरवाचक हैं। गांधीजी अपने को जीवन-मुक्त नहीं मानते और न वह और किसीको भी संपूर्ण जीवन-मुक्त मानने के लिए तैयार हैं। संपूर्ण जीवन-मुक्त ईश्वर ही है और यह गांधीजी की दृढ़ मान्यता है कि 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'—वचन भी ईश्वर के लिए ही है। इसलिए वह कहते हैं—मनुष्य चाहे जितना बड़ा क्यों न हो चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो ईश्वर का पद नहीं ले सकता और न व्यापक जनहित के लिए भी उसे हिंसा करने का अधिकार है। इस निर्णय में से सत्याग्रह और उपवास की उत्पत्ति हुई।

इस एक स्थान को छोड़कर बाकी पुस्तक में मुझे कहीं कुछ भी नहीं खटका बल्कि सारा विवेचन इतना तलस्पर्शी और सारा दर्शन इतना दोष-मुक्त मालूम हुआ है कि मैं पुस्तक को प्रूफ के रूप में ही दो बार पढ़ गया तथा और भी कई बार पढ़ूं तो भी मुझे थकान नहीं आयेगी। मुझे लगता है कि और पाठकों की भी यही दशा होगी और, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है, औरों को भी इस पुस्तक का पठन शांतिप्रद और बोधप्रद मालूम होगा।

सेवाग्राम ।
८– –४

—महादेव देसाई

बापू

की तरह है जो यदि भगवान चाहें तो एक प्रचण्ड जीवक तेज में परिणत होकर संसार में फिर शांति स्थापित कर सकती है।

पर शायद मैं आशा के बहाव में बहा जा रहा हूं। तो भी इतना तो शुद्ध सत्य है ही कि गांधीजी के आविर्भाव ने इस देश में एक आशा, एक उत्साह, एक उमंग और जीवन में एक नया ढंग पैदा कर दिया है, जो हजारों साल के प्रमाद के बाद एक बिलकुल नई चीज है।

किसी एक महापुरुष की दूसरे से तुलना करना एक कष्टसाध्य प्रयास है। फिर गांधी हर युग में पैदा भी कहां होते हैं? हमारे पास प्राचीन इतिहास—जिसे दरअसल सवा तीन कहा जा सके—भी तो नहीं है कि हम गणना करें कि कितने हजार वर्षों में के गांधी पैदा हुए। राम-कृष्ण चाहे देहधारी जीव रहे हों, पर कवि ने मनुष्य-जीवन की परिधि से बाहर निकालकर उन्हें एक अलौकिक रूप दे दिया है। कवि तो कवि ही ठहरा, इसलिए उसका दिया हुआ अलौकिक स्वरूप भी अपूर्ण है। ऐसे स्वरूप के विवरण के लिए तो कवि अलौकिक, लेखनी अलौकिक और भाषा भी अलौकिक ही चाहिए। पर तो भी कवि की कृति के कारण राम-कृष्ण को मानवी मापदण्ड से मापना दुष्कर हो गया है।

इसके विपरीत कवि पुष्कल प्रयत्न करने पर भी बुद्ध की ऐतिहासिकता और उसका मानवी जीवन न मिटा सका। इसलिए समाज के ऐतिहासिक महापुरुषों में बुद्ध ने एक अत्यन्त ऊंचा स्थान पाया। पर कलियुग में एक ही बुद्ध हुआ है और एक ही गांधी। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में एक दीपक जलाया जिसने [illegible] के बाद अपने प्रचण्ड तेज से [illegible] दिया। गांधीजी ने अपने जीवन [illegible] प्राप्त की जो [illegible]।

अपने जीवनकाल में गांधीजी ने जितना यश कमाया जितनी ख्याति प्राप्त की और वह जितने लोकवल्लभ हुए, उतना शायद ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ हो। ऐसे पुरुष के विषय में कोई कहां तक लिखे? इकहत्तर साल की क्रमबद्ध जीवनी शायद ही कभी सफलता के साथ लिखी जा सके। और फिर गांधीजी को पूरा जानता भी कौन है?

'सम्यग् जानाति वै कृष्णः किंचित् पार्थो धनुर्धरः'

जैसे गीता के बारे में कहा गया है, वैसे गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्हें भली प्रकार तो खुद वही जानते हैं बाकी कुछ-कुछ महादेव देसाई भी।

२

मने गांधीजी का पहले-पहल देखा तब या तो उन्नीस सौ चौदह का अन्त था या पन्द्रह का प्रारम्भ। जाड़े का मौसम था। लन्दन से गांधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ते आने की उनकी तयारी थी। जब यह खबर सुनी कि कर्मवीर गांधी कलकत्ते आ रहे हैं तो सावजनिक कार्यकर्ताओं के दिल में एक तरह का चाव-सा उमड़ पड़ा। उन दिनों का सार्वजनिक जीवन कुछ दूसरा ही था। अखबारों में लेख लिखना व्याख्यान देना नेताओं का स्वागत करना और स्वय भी स्वागत की लालसा का व्यूह रचना—सार्वजनिक जीवन करीब करीब यहीं तक सीमित था।

मैं उन दिनों जवानी में पांव रक्खा ही था बोसी बस खत्म हुई ही थी। पांच सवारों में अपना नाम लिखाने की चाह लिए मैं भी फिरता था। मेलों में वालटियर बनकर भीड़ मे लोगों की रक्षा करना बाढ़ पीड़ित या अकाल-पीड़ित लोगों की सेवा के लिए सहायता केन्द्र खोलना चन्दा मागना और देना, नेताओं का स्वागत करना उनके व्याख्यानों में उपस्थित होना यह उन दिनों के सावजनिक जीवन म रस लेनेवाले नौजवानों के कर्तव्य की चौहद्दी थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इस चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी। मेरी भी यही चौहद्दी थी जिसके भीतर रस और उत्साह के साथ म चक्कर काटा करता था।

नेतागण इस चौहद्दी के बाहर थे। उनके लिए कोई नियम नियन्त्रण या विधान नहीं था। जोशीले व्याख्यान देना

चन्दा मांगना यह उनका काम था। स्वागत पाना यह उनका अधिकार था। इसका मतलब यह नहीं कि नेता लोग अकर्मण्य थे या कर्त्तव्य में उनका मोह था। बात यह थी कि उनके पास इसके सिवा कोई कार्यक्रम ही नहीं था न कोई कल्पना थी। जनता भी उनसे इससे अधिक की आशा नहीं रखती थी। नेता थे भी थोड़े से इसलिए उनका बाजार गरम था। अनुयायी भक्ति-भाव से पूजन-अर्चन करते जिसे नेता लोग बिना संकोच के ग्रहण करते थे।

उस समय के लीडरों की नुक्ताचीनी करते हुए अकबर साहब ने लिखा था

> क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ
> रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

अवश्य ही अकबर साहब ने घोड़ और गधे को एक ही चाबुक से हांकने की कोशिश की मगर इसमें सरासर अत्युक्ति थी ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि कुछ लीडरों के साथ उन्होंने अन्याय किया तो बहुतों के बारे में उन्होंने यथार्थ की बात भी कह दी।

गांधीवाद के आविर्भाव के बाद तो मापदण्ड कुछ न्यारा ही बन गया। नेताओं को लोग दूरबीन और खुर्दबीन से देखने लग गए। एक ओर चरित्र की पूछताछ बढ़ गई तो दूसरी ओर उसके साथ-साथ पाखण्ड भी बढ़ा। स्वार्थ में वृद्धि हुई पर त्याग भी बढ़ा। क्षीर सरोवर में गांधीवाद की मथनी ने पानी को बिलो डाला। उसमें से अमृत भी निकला और विष भी। उसमें से देवासुर-संग्राम भी निकला। गांधी जी ने न मालूम कितनी बार विष की कड़वी घूटें पीं और शिव की तरह नीलकंठ बने। संग्राम तो अभी जारी ही है और सुरों की विजय अन्त में अवश्यम्भावी है यह आशा लिए लोग बैठे हैं। पर जिस समय की मैं बात कर रहा हूं उस

समय यह सबकुछ न था। सरोवर का पानी शांत था। ऊषा की लालिमा शांतभाव से गगन में विद्यमान थी पर सूर्योदय अभी नहीं हुआ था। पुनर्जन्म की तयारी थी पर या तो नये जन्म से पहले की मृत्यु का सन्नाटा था या प्रसव वेदना के बाद की सुषुप्ति जनित शांति। न नेताओं को पाखण्ड में आत्मग्लानि थी न अनुयायी ही इस चीज को वैसी बुरी नजर से देखते थे।

एसे समय में गांधीजी अफ्रीका से लन्दन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया। कलकत्ते में भी उसी सिलसिले में उनके आगमन की तयारी थी।

मुझे याद आता है कि गांधीजी के प्रथम दर्शन ने मुझमें काफी कुतूहल पदा किया। एक सादा सफेद अंगरखा धोती सिर पर काठियावाड़ी फेंटा नंगे पांव यह उनकी वेषभूषा थी। हम लोगों ने बड़ी तैयारी से उनका स्वागत किया। उनकी गाड़ी को हाथ से खींचकर उनका जुलूस निकाला। पर स्वागतों में भी उनका ढंग निराला ही था। मैं उनकी गाड़ी के पीछे साईस की जगह खड़ा होकर 'कर्मवीर गांधी की जय!' गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था। गांधीजी के साथी ने जो उनकी बगल में बैठा था मुझसे कहा 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' ऐसा पुकारो। गांधीजी इससे प्रसन्न होंगे। मैंने भी अपना राग बदल दिया।

पर मालूम होता था गांधीजी को इन सब चीजों में कोई रस न था। उनके व्याख्यान में भी एक तरह की नीरसता थी। न जोश था न कोई अस्वाभाविकता थी न उपदेश देने की प्यास-ध्वनि थी। आवाज में न चढ़ाव था न उतार। बस एक तार था एक गर्जं थी पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी जो श्रोताओं पर छाप डाल रही थी।

मुझे याद आता है कि कलकत्ते में उन्होंने जितने व्याख्यान दिये--शायद कुल पांच व्याख्यान दिये होंगे--वे

प्रायः सभी हिन्दी भाषा में दिये। सभी व्याख्यानों में उन्होंने गोखले की जी-भरकर प्रशंसा की। उन्हें अपना राजनैतिक गुरु बताया और यह भी कहा कि श्री गोखले की आज्ञा है कि मैं एक साल देश में भ्रमण करूं, अनुभव प्राप्त करूं। इसलिए जबतक मुझे सम्यक अनुभव नहीं हो जाता तबतक मैं किसी विषय पर अपनी पक्की राय कायम करना नहीं चाहता। नौजवानों को गोखले का ढंग नापसन्द था क्योंकि वह होम कोमल किस्म की बातें किया करते थे जो उस समय के नौजवानों की शिक्षा-दीक्षा से कम मेल खाती थीं। लोकमान्य लोगों के आराध्य थे। इसलिए हम सभी नौजवानों को गांधीजी का बार-बार गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बताना खटका।

पर तो भी गांधीजी के उठने-बैठने का ढंग, उनका सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, इन सब चीजों ने हम लोगों को एक मोहिनी में डाल दिया। नये नेता की हम लोग कुछ थाह न लगा सके।

मैंने उन दिनों गांधीजी से पूछा कि क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे खतो-किताबत हो सकती है? उन्होंने कहा, हां। मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी दे सकता है। वह भी मेरे जैसे एक अनजान साधारण नौजवान को। पर इसकी परीक्षा मैंने थोड़े ही दिनों बाद कर ली। उत्तर में तुरन्त एक पोस्टकार्ड आया जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की भी काफी किफायत थी।

पता नहीं किन-किन नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, किन-किन को उत्थान में डाला होगा, किन-किन के लिए वह कुतूहल की सामग्री बन होंगे। पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे वैसे ही आज भी हैं।

३

१ ३२ के सत्याग्रह की समाप्ति के बाद लार्ड विलिंग्डन पर एक मर्तबा शायद १९३४ की बात है मैंने जोर डाला कि आप इस तरह गांधीजी से दूर न भागें उनसे मिलें उनको समझने की कोशिश करें इसीमें भारत और इंग्लिस्तान दोनों का कल्याण है। पर वाइसराय पर इसका कोई असर न हुआ। उन्हें भय था कि गांधीजी उन्हें कहीं फांस न लें। वह मानते थे कि गांधीजी का विश्वास नहीं किया जा सकता। मझे मालूम है कि भारत-सचिव ने भी वाइसराय पर गांधीजी से मेल जोल करने के लिए जोर डाला था पर सारी क्रिया निष्फल गई। जिस मेल-मिलाप का अमल-दरामद अरविन के जाने के बाद टूटा वह विलिंग्डन के आनेतक न सघ सका।

जिन गांधीजी पर मेरी समझ में निर्भय होकर विश्वास किया जा सकता है उनके प्रति वाइसराय विलिंग्डन का विश्वास न था! वाइसराय ने कहा 'वह इतने चतुर हैं बोलने में इतने मीठे हैं उनके शब्द इतने द्विअर्थी होते हैं, कि जबतक मैं उनके वाक्पाश में पूरा फंस न चुकूंगा तबतक मुझे पता भी न लगेगा कि मैं फंस गया हूं। इसलिए मेरे लिए निर्भय मार्ग तो यही है कि मैं उनसे न मिलूं उनसे दूर ही रहूं। मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी कि गांधीजी के बारे में किसी के ऐसे विचार भी हो सकते हैं। पर पीछे मालूम हुआ कि ऐसी श्रेणी में वाइसराय अकेले ही न थे और भी कई लोगों की ऐसी शंका रही है।

अमरीका के एक प्रतिष्ठित ग्रंथकार श्री गुन्थर ने गांधीजी

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी परस्पर-विरुद्ध-धर्मी गुणों के एक खासे सम्मिश्रण हैं। वह 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' हैं। अत्यन्त सरल फिर भी अत्यन्त गूढ़, अतिशय कंजूस पर अतिशय उदार हैं। उनके विश्वास की कोई सीमा नहीं पर मैंने उन्हें मौके-बेमौके अविश्वास भी करते पाया है। गांधीजी एक कुरूप व्यक्ति हैं जिनके शरीर, आंखों और हरेक अवयव से दैवी सौन्दर्य और तेज की आभा टपकती है। उनकी खिलखिलाहट ने न मालूम कितने लोगों को मोहित कर दिया। उनके बोलने का तरीका सीधा होता है पर उसमें कोई मोहिनी होती है जिसे पी-पीकर हजारों प्रमत्त हो गए।

गांधीजी को शब्दांकित करना दुष्कर प्रयास है। कोई पूछे कि कौन-सी चीज है जिसने गांधीजी को महात्मा बनाया तो उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी शायद सफलता न मिले। बात यह है कि गांधीजी जैसाकि मैं पहले कह चुका हूं इतने परस्पर-विरुद्ध और समान सम्मिश्रणों के पुतले हैं कि पूरा विश्लेषण करना एक कठिन प्रयत्न है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब चीजें हैं जिनकी सारी शक्ति ने गांधीजी को बड़ा बनाया। गांधीजी को आदमी उनसे सम्बन्धित साहित्य को पढ़कर तो जान ही नहीं सकता पास में रहकर भी सम्यक् नहीं जान सकता।

गांधीजी का जीवन एक महत् दर्जी जलूस है जिसने उसके द्वारा सम्प्राप्त ही गति पाई जो अब भी द्रुतगति से चलता ही जा रहा है और मृत्यु तक लगातार चलता ही रहेगा। इस जलूस में न मालूम कितने दृश्य हैं, न मालूम कितने अंग हैं। पर इन सब दृश्यों का इन सब अंगों का एक ही ध्येय है और एक ही दिशा में वह जलूस लगन के साथ चलता जा रहा है। हर पल उस जलूस को अपने ध्येय का भान है, हर पल उसे प्रयत्न जारी है और हर पल वह अपने ध्येय के निकट पहुंच रहा है।

किसी ने गांधीजी को केवल 'बापू' के रूप में ही देखा है किसी ने 'महात्मा' के रूप में किसी ने एक राजनैतिक नेता के रूप में और किसी ने एक बागी के रूप में।

गांधीजी ने सत्य की साधना की है। अहिंसा का आचरण किया है। ब्रह्मचर्य का पालन किया है। भगवान की भक्ति की है। हरिजनों का हित साधा है। दरिद्रनारायण की पूजा की है। स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। खादी-आन्दोलन को अपनाया है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए अथक प्रयत्न किया है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये हैं। गोवंश के उद्धार की योजना की है। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य और अध्यात्म की दृष्टि से अन्वेषण किये हैं। ये सब चीजें गांधीजी का अंग बन गई हैं। इन सारी चीजों का एकीकरण जिसमें समाप्त होता है वह गांधी है।

'मेरा जीवन क्या है?—यह तो सत्य की एक प्रयोगशाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति ईश्वर का साक्षात् दर्शन। मैं चाहे सोता हूं या जागता हूं उठता हूं या बैठता हूं खाता हूं या पीता हूं मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसी को लेकर मैं जिन्दा हूं। मेरे व्याख्यान या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल सभी उसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर गति-विधि पाते हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं भूल नहीं करता। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो किया वही निर्दोष है। पर मैं एक दावा अवश्य करता हूं कि मैंने जिस समय जो ठीक माना उस समय वही किया। जिस समय जो 'धर्म' लगा उससे मैं कभी विचलित नहीं हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सत्य ही धर्म और सेवा में ही ईश्वर का साक्षात्कार है।'

गांधीजी का जीवन क्या है इसपर उनकी उपर्युक्त उक्ति काफी प्रकाश डालती है। ये बड़े बोल हैं जो एक प्रकाण्ड

प्रेम से प्लावित व्यक्ति ही अपने मुंह से निकाल सकता है पर—

> न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
> कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

ये क्या कम बड़े बोल थे ?

४

मैंने एक बार कौतुकवश गांधीजी से प्रश्न किया कि आप अपने कौन-से कार्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 'बस यह मेरा काम मेरे सारे कामों का शिखर है ?

गांधीजी इसका उत्तर तुरन्त नहीं दे सके। उन्हें एक पल—बस एक-ही पल—ठहरना पड़ा क्योंकि वह सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकते थे। समुद्र से पूछो कि कौन-सा ऐसा विशेष जल है जिसने आपको सागर बनाया तो समुद्र क्या उत्तर देगा ? गांधीजी ने कहा सबसे बड़ा काम कहो तो खादी और हरिजन-कार्य। मुझे यह उत्तर कुछ पसन्द नहीं आया इसलिए मैंने अपना सुझाव पेश किया। 'और अहिंसा ?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है ? 'हाँ है तो पर यह तो मेरे हर काम में ओत प्रोत है। पर यदि समष्टि अहिंसा से व्यष्टि कार्य का भेद करो तो कहूंगा—खादी और हरिजन-कार्य ये मेरे श्रेष्ठतम कार्य हैं। अहिंसा तो मानो मेरी माला के मनकों में धागा है जो मेरे सारे कामों में ओत प्रोत है।

हरिजन-कार्य अत्यन्त महान् हुआ है, इसमें कोई शक नहीं। इनको यह चटक कब लगा यह कोई नहीं बता सकता। पर जब यह बारह साल के थे तभी इस विषय में इनका हृदय-मंथन शुरू होगया था। इनके महतर का नाम ऊका था। वह पाखाना साफ करने आया करता था। इनकी माँ ने इनसे कहा 'इसे मत छूना। पर गांधीजी को इस अछूतपन में कोई सार नहीं लगा। अछूतपन अधर्म है, ऐसा इनका विश्वास

बढ़ने लगा था। उस समय के इनके बचपन के ख्यालात से ही पता लग जाता है कि इन्हें अछूतपन हिन्दू धर्म में एक असह्य कलंक लगता था। जब इन्हें हिन्दु-धर्म में पूर्ण श्रद्धा नहीं थी तब भी अछूतपन के कारण इन्हें काफी वेदना होती थी। यही संस्कार थे कि जिनके कारण आज से चालीस वर्ष पहले जब राजकोट में प्लेग चला और इन्होंने जन-सेवा का कार्यभार अपने ऊपर लिया तब अछूतों की बस्ती का तुरन्त निरीक्षण किया। उस जमाने में इनके साथियों के लिए इनका यह कार्य अनोखा था पर हरिजन-सेवा के बीज उस समय तक अंकुरित हो चुके थे जो फिर समय पाकर पनपते ही गए। और उस सेवा-वृक्ष की प्रचण्डता तो हरिजन-उपवास के समय ही प्रत्यक्ष हुई। हरिजन-उपवास तो क्या था हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने का एक जबरदस्त प्रयत्न था और उसमें गांधीजी को पूर्ण सफलता मिली।

एक भीषण षड्यन्त्र था कि पाँच करोड़ हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक कर दिया जाय। इस षड्यन्त्र में बड़े बड़े लोग शरीक थे। इसका पता कुछ ही लोगों को था। गांधीजी इससे परिचित थे। उन्होंने द्वितीय गोलमेज-परिषद् में ही अपने व्याख्यान में कह दिया था कि हरिजनों की रक्षा के लिए वह अपनी जान लड़ा देंगे। इस मर्मस्पर्शी चुनौती का उस समय किसी ने इतना गम्भीर अर्थ नहीं निकाला। पर गांधीजी ने तो अपना निर्णय उसी समय कर डाला था। इसलिए प्रधान मन्त्री ने जब अपना हरिजन-निर्णय प्रकट किया तब गांधीजी ने हरिजनों की रक्षा के लिए सचमुच ही अपनी जान [illegible]। इस प्रकार गांधीजी ने आमरण उपवास करके हिन्दू समाज और हरिजन दोनों का उद्धार किया। अहिंसात्मक [illegible] प्रयोग था। [illegible] सफलता [illegible] चमत्कार हुआ। [illegible] राजनैतिक [illegible] था हालांकि इसका [illegible] उनको [illegible] आमरण महा था। पर

समझकर उसे हृदयंगम किया ? कितनों ने उसे आचरण में लाने की कोशिश की ? और कितने सफल हुए ? और दूसरी ओर गांधीजी की अहिंसा-नीति व्यंग्य का भी कम शिकार न बनी। कुतर्कों की कमी न रही। पर इन सबके बीच ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते ही हैं जो सरल भाव से एकान्त लोगों द्वारा केवल समाधान के लिए ही किये जाते हैं।

अहिंसा तो सन्यासी का धर्म है। राजधर्म में अहिंसा का क्या काम ? हम अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसा द्वारा कैसे कर सकते हैं ? क्या कभी सारा समाज अहिंसात्मक बन सकता है ? यदि नहीं तो फिर थोड़े-से आदमियों के अहिंसा धारण करने में उसकी उपयोगिता का महत्त्व क्या ? अहिंसा का उपदेश क्या कायरता की वृद्धि नहीं करता ? और गांधीजी के बाद अहिंसा की क्या प्रगति होगी ?

ऐसे-ऐसे प्रश्न रोज किये जाते हैं। गांधीजी उत्तर भी देते हैं पर प्रश्न जारी ही हैं। क्योंकि यदि हम केवल जिज्ञासा ही करते रहें और आचरण का प्रयत्न भी न करें तो फिर शंका का समाधान भी क्या हो सकता है ? गुड़ का स्वाद भी तो आखिर खाने में ही जाना जाता है।

हां, अहिंसा तो सन्यासी का धर्म है। राजधर्म में तो हिंसा स्पष्ट रूप से विहित है। हम निःशस्त्र होकर आततायी का मुकाबला करें तो वह हमें खा लेगा। हमारी हार होगी और आततायी की जीत। आततायी वधार्हेण 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' ये शास्त्रों के वचन हैं।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥

ये सब के सब आततायी हैं। इन्हें मारना ही चाहिए। यदि इस आततायी को दण्ड न दें तो समाज में अधर्म की वृद्धि

अवगणना करके अपने दोषों का आत्म निरीक्षण ज्यादा जाग्रत होकर करे तो संसार का सारा पाप छिप जाय।

धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं समझ नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं तो फिर सच्ची अहिंसा यह है जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को मोह कहां? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े। 'नियोगक्षेम आत्मवान्'—गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो सन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं कर्म सिखाती है जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो स्व के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे गाधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह धर्म से ही की जा सकती है पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों या सत्याग्रह के पात्र हों और अपनी आत्म

अवगणना करके अपने दोषों का आत्म-निरीक्षण ज्यादा जाग्रत होकर कर तो समाज का सारा पाप छिप जाय।

धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपभोग के लिए संग्रह लेकर बैठ हैं, संभव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं तो फिर सच्ची अहिंसा वह है जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहां? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े। 'नियोगक्षेम आत्मवान्'—गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता में नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं कर्म सिखाती है जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो स्व के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह धर्म से ही की जा सकती है पाप से नहीं। इसके विपरीत जो लोग संग्रह में आसक्त हैं वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह संभव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों जो सब तरह से पात्र हों और अपनी आत्म

शक्ति द्वारा यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो किसीके संग्रह की भी रक्षा कर सकें।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं चला सकते किसीका देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य स्थापित किया वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

इसके माने यह है कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं पाप की नहीं। और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम करलें तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं। और यदि वह पाप है तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहाँ कठिनता हुई है?

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ
हौं बौरी ढूंढन गई रही किनारे बैठ।

असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं—और चूंकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती—तब अहिंसा के गुण प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।

राजनीति में अहिंसा के प्रवेश से यह उलझन इसलिए बढ़ गई है कि राजनीति का चित्र हमने वही खींचा है जो यूरोप की राजनीति का हमारे सामने उपस्थित है। जातीयता का अभिमान जातियों में परस्पर वैरभाव दूसरे देशों को दबा लेने का लोभ हमारा उत्थान दूसरों के नाश से ही हो सकता है ऐसा भ्रम उससे प्रभावित होकर सीमा की मोर्चाबन्दी करना और नाना प्रकार के मारण-तारण अस्त्रशस्त्रों की पैदाइश बढ़ाना। घर के भीतर भी वही प्रवृत्ति है जो बाहर के देशों के प्रति है। ऐसी हालत में अहिंसा हमारा शस्त्र हो या हिंसा इसका निर्णय करने से पहले तो हमें यह निर्णय करना होगा कि हम चाहे व्यक्ति के लिए चाहे समाज के लिए शुद्ध धर्म का मार्ग ही अनुसरण करना है या पाप का? अपनी राजनीति हम मानवता की विस्तृत बुनियाद पर रचना चाहते हैं या कुछ लोगों के स्वार्थ की संकुचित भित्ति पर? फिर चाहे वे कुछ लोग हमारे कुटुम्ब के हों या कबील के प्रांत के या देश के।

यूरोप में कई ऐसे सभ्य त्यागी हैं जो निजी जीवन में केवल सत्य का ही व्यवहार करते हैं पर जहां स्वदेश के हानि लाभ का प्रश्न उठता है वहां सत्य ईमानदारी सज्जनसाहत सारी बातों को तिलांजलि देने में नहीं हिचकते। उनके लिए—यदि वे अहिंसा धारण करना चाहें तो—एक ही मार्ग होगा—स्वार्थवृत्ति का त्याग चाहे वह निजी स्वार्थ के लिए हो या देश के लिए। उनके लिए स्वदेश की कोई सीमा

वस्तुओं पर नहीं भीतर की वृत्तियों पर अवलम्बित है। फूटी हुई बन्दूक में गोली भरकर चलाओ तो क्या कभी निशाने पर जा सकती है ? वैसे ही जो मनुष्य शुद्ध हृदयवाला नहीं है दवी सपदावाला नहीं है वह अहिंसा के शस्त्र को क्या उठायेगा ? असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वय ही शस्त्र है और स्वय ही उसका चालक है। यदि आत्मशुद्धि नहीं है आसुरी सपदावाला है तो उसकी हालत फूटी बन्दूक जसी है। उसके लिए अहिंसा के कोई माने नहीं। अहिंसक में ही अहिंसा रह सकती है। अहिंसा धारण करने से पहले मनुष्य को अहिंसक बनना है। और अहिंसक का सकुचित अर्थ भी किया जाय तो वह यह है कि न्यायपूर्वक चलनेवाला नागरिक।

'क्या सारा समाज अहिंसात्मक हो सकता है ? यदि नहीं तो फिर इसका व्यावहारिक महत्त्व क्या यह भी प्रश्न है। पर गांधीजी कहाँ यह आशा करते हैं कि सारा समाज हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देगा ? उनकी व्यूह-रचना इस बुनियाद पर है ही नहीं कि सारा समाज अहिंसा-धर्म का पालन करने लग जाय। उनकी यह आशा अवश्य है कि समाज का एक बहुत अग हिंसा की पूजा करना तो कम-से-कम छोड़ दे चाहे फिर वह आचरणों में पूर्ण अहिंसावादी न भी हो सके।

यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहाँ हिंसक सेना के बल पर शांति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है वहाँ भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्धकला में निपुण होगा। करोड़ों की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा क लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में स भी जो ऊपरी गणनायक होते है उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

आज इंग्लिस्तान में जितने निपुण गणनायक होंगे जो

फौज के सचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं। शायद दस-बीस। पर बाकी जो लाखों की फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फौज की भी कल्पना कर सकते हैं। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हों उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो जो अनुयायी हों वे श्रद्धालु हों और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो पर उनमें सत्य अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है तो काफी है। इस हिसाब से अहिंसात्मक फौज बिल्कुल अव्यावहारिक चीज साबित नहीं होती।

हाँ यदि हमारी महत्त्वाकांक्षा साम्राज्य फैलाने की है यदि हमारी आँखें दूसरों की सम्पत्ति पर गड़ी हैं यदि भूखे पड़ोसियों के प्रति हमें कोई हमदर्दी नहीं है हम अपने ही स्वार्थ में रत रहकर भोगों के पीछे पड़े हुए हैं या अपने ही भोगों को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुन का क्या काम? वहाँ तो कीचड़ की जरूरत है। गन्दगी रोग पैदा करती है मृत्यु को समीप लाती है इसका हम ज्ञान है। इसलिए हम गन्दगी की रक्षा करना चाहते हैं तो हम दया के पात्र हैं। अहिंसा का पोषक हम हमारी भूख में वधान का प्रयत्न करेगा पर हमारी गन्दगी का पोषण कभी नहीं करेगा हम चाहे उसके स्वदेशवासी क्यों न हों मल्लान हो क्यों न हो।

अहिंसा को राजनीति में गांधीजी ने जान-बूझकर प्रविष्ट किया [illegible] राजनीति में अधम [illegible] है ऐसा मानकर [illegible] मानते [illegible]। [illegible] इसलिए [illegible] [illegible] गा। पोषण करना चाहते थे वहाँ गांधी-[illegible] में [illegible] [illegible] किया है। हम [illegible] कि पानी

गांधीजी के बाद क्या अहिंसा पनपेगी ? अहिंसा को गांधीजी के जीवन के पश्चात् प्रगति मिलेगी या विगति ?

बुद्ध और ईसामसीह के जीवन-काल में जितना उनके उपदेशों ने जोर नहीं पकड़ा उससे अधिक जोर उनकी मृत्यु के बाद पकड़ा । यह सही है कि उनके जीवन के बाद उनके उपदेशों का भौतिक शरीर तो पुष्ट होता गया पर आध्यात्मिक शरीर दुर्बल बनता गया । तो फिर क्या यह कह सकते हैं कि बुद्ध का उपदेश आज नष्ट हो गया है या ईसामसीह का तेज मिट गया है ? वर्षा होती है तब सब जगह पानी-ही-पानी नजर आता है । शरद् में वह सब सूख जाता है, तब क्या हम यह कह सकें कि वर्षा का प्रभाव नष्ट हो गया ? बात तो यह है कि शरद् में धान्य के खलिहानों से परिपूर्ण खेत वर्षा के माहात्म्य का ही विज्ञापन करते हैं । वर्षा का पानी खेतों की मिट्टी में अवश्य घुस गया पर वही पानी अन्न के दानों में प्रविष्ट होकर जीवित है । खेतों में यदि पानी पड़ा रहता तो गन्दगी फैलती कीचड़ बदबू और विष पैदा करता । अन्त में प्रवेश करके उसने अमृत पैदा किया ।

महापुरुषों के उपदेश भी इसी तरह पात्रों के हृदय में प्रवेश करके स्थायी अमर बन जाते हैं । गेहूं के दाने से पूछिए कि वर्षा का पानी कहां है ? वह बतायेगा कि वह पानी उसके शरीर में छिपा है । इसी तरह सत्पुरुषों के जीवन का फल [illegible] हैं । गांधीजी का जीवन मह[illegible] किया [illegible] —और उनकी मृत्यु के बाद भी [illegible] । [illegible] सों में एक प्राण उन्होंने बहा [illegible]

पीछे धीरे-धीरे एक-के-बाद एक मुल्क गिरते गये। पर जर्मनी ने लड़ाई छेड़ी तबसे तो बड़ी हिंसा के सामने छोटी हिंसा ऐसी निर्बल साबित हुई जैसे फौलाद की गोली के सामने घोंघे की हांडी। पोलैंड गया फिनलैंड गया नार्वे बेल्जियम हालैंड फिर फ्रांस सब बात-की-बात में मिट गये और मिटने से पहले स्मशान हो गये। एक डेन्मार्क मिटा तो सही पर स्मशान नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि इन देशों के लोग यदि बिना मारे मरने को तैयार होते तो क्या उनकी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी नहीं होती? आज तो उनका शरीर और आत्मा दोनों ही मर गये। यदि वे बिना मारे मरते तो बहुत सम्भव है कि उनका मुल्क उनके हाथ से शायद छिन जाता पर उनकी आत्मा आज से कहीं अधिक स्वतन्त्र होती और मुल्क भी शायद ही छिनता या न भी छिनता। आज तो छिन ही गया। ये लोग अहिंसा से लड़ते तो इनकी इस अनुपम अहिंसा का जर्मनी पर सौगुना अच्छा प्रभाव पड़ता।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' यह वाक्य निरर्थक नहीं है। यह यूरोप का 'यान्त्र संग्राम' आखिर है क्या? बढ़े हुए लोभ का ज्वालामुखी है जो दहकती हुई आग से यूरोप के सारे मुल्कों को भस्म कर देना चाहता है। ऐसी अग्निवर्षा में अहिंसा अवश्य ही वर्षा का काम देगी। पर हर हालत में यह तो साबित हो ही गया कि हिंसा भी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकी।। बेल्जियम फ्रांस और इंग्लैंड की सम्मिलित शक्ति बेल्जियम को नहीं बचा सकी। इसके बाद यदि कोई कहे कि "सारी हिंसा की आजमाइश हो गई अब अहिंसा जो सत्यरूप ईश्वर का दूसरा नाम है उसको आजमा करो और उससे मदद करना सीखो" तो उसे कौन पागल कह सकता है? क्योंकि अहिंसा का उपचार प्रकारान्तर से इतना ही कहना है "मार छोड़ो जो चीज जिसकी है वह उसे दे दो।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्
धर्म से बचो क्योंकि पाप आ जायगा। धर्म ही रक्षा कर सकता है। न डरो न डराओ।

धर्म-धारण के माने ही हैं उस स्वार्थ का संयम जो आज के भीषण संग्राम का स्रोत है। धर्म धारण करने के बाद संग्राम कहां हिंसा कहां ?

लोग कहते हैं पर यह क्या कोई मान सकता है ? 'न माने' पर क्या इसलिए यह कहना चाहिए कि पाप करो चोरी करो झूठ बोलो व्यभिचार करो ? ऐसे तार्किक तो गीताकार को भी कह सकते हैं कि क्या यह कोई मान सकता है ?

शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिंसा है। कायरता का नाम अहिंसा हर्गिज नहीं है। सम्पूर्ण निर्भयता में ही अहिंसा संभव हो सकती है। और जो अत्यन्त शूर है वही अत्यन्त निर्भय हो सकता है। असावधानी और अभय ये अलग-अलग चीजें हैं। जिसे अभाव के कारण या नशे में भय का ज्ञान ही नहीं वह निर्भय क्या होगा ? मगर जिसके सामने भय उपस्थित है पर निर्भय है वही परम शूर है वही अहिंसावादी है।

एक हट्टा-कट्टा पिता को एक नादान बालक क्रोध में आकर चपत जमा जाता है तो पिता को न क्रोध आता है न बदले में चपत जमाने को उसकी हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। पर वही चपत यदि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य लगाता है तो क्रोध भी आता है और हिंसा-वृत्ति भी जाग्रत होती है। यह इसलिए होता है कि बच्चे की चपत से तो पिता निर्भय था पर समवयस्क की चपत ने भय का संचार किया। इस तरह हिंसा और भय का जोड़ा है। भय के आविर्भाव में हिंसा और भय के अभाव में अहिंसा है। हिटलर और चर्चिल दोनों को एक-दूसरे का डर है। शौर्य का इस दृष्टि से दोनों ओर अभाव है। दोनों ओर इसीलिए हिंसा का साम्राज्य है। शौर्य

की आत्यन्तिकता में अहिंसा है वस ही मन की आत्यन्तिकता में कायरता है।

एक और बात है। किसी प्राणी का हनन-मात्र ही हिंसा नहीं है। एक ऐसे पागल की कल्पना हम कर सकते हैं जिसके हाथ एक मशीनगन पड़ गई हो और वह पागलपन में यदि जिन्दा रहने दिया जाय तो हजारों आदमियों का खून कर डाले। ऐसे मनुष्य को मारना हिंसा नहीं कही जायगी। द्वेष रहित होकर समबुद्धि से लोक-कल्याण के लिए किया गया हनन भी हिंसा नहीं हो सकेगी। पोलैंड के स्वदेश-रक्षा के युद्ध के सम्बन्ध में लिखते समय गांधीजी ने कहा "यदि पोलैंड में स्वार्थ-त्याग और शौर्य की आत्यन्तिकता है तो संसार यह भूल जायगा कि पोलैंड ने हिंसा द्वारा आत्म-रक्षा की। पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार होगी।"

पोलैंड की हिंसा करीब-करीब अहिंसा में शुमार क्यों होगी इसका विवेचन भी गांधीजी ने पिछले दिनों कुछ जिज्ञासुओं के सामने एक मौलिक ढंग से किया। मेरा खयाल है कि वह विवेचन भी सम्पूर्ण नहीं था। और हो भी नहीं सकता था। एक ही तरह का कर्म एक समय धर्म और दूसरे समय अधर्म माना जा सकता है। एक कर्म धर्म है इसका निर्णय तो स्वयं ही करना है पर पोलैंड की हिंसा भी करीब-करीब अहिंसा में ही शुमार हो सकती है यह कथन उलझन पैदा कर सकता है पर इसमें असंगति नहीं है।

इस सार विश्लेषण से अहिंसा का शुद्ध स्वरूप और इसकी व्यावहारिकता समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

५

गांधीजी में अहिंसा-वृत्ति कब जाग्रत हुई राजनीति में समाजनीति में और आपस के व्यवहार में इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ इसके गुणों में श्रद्धा कब हुई यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते हैं कि कितनी ही चीजें जो हमें मालूम होती हैं कि हमारे भीतर अचानक आगई वे दरअसल धीरे-धीरे पनपी हैं। गुणों के बीज हमारे भीतर रहते हैं जो धीरे-धीरे अंकुरित होते हैं फिर पनपते हैं। इसी तरह दुर्गुणों की भी बात है।

हम देखते हैं कि बचपन से ही गांधीजी के चित्त पर सत्य और अहिंसा के चित्रों की एक अमिट रूप रेखा खिंच चुकी थी। अत्यन्त बचपन में गांधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर यह समझकर कि मांसाहार समाज के लिए लाभप्रद है स्वयं भी मांस खाने लगे। उन्हें यह कार्यक्रम चुभने लगा क्योंकि यह काम वह छुप-छिपकर करते थे। उसमें असत्य था और मांस खाना उन्हें रुचिकर भी नहीं था। पर एक बुराई से दूसरी बुराई आती है। मांस खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिए वे घर से चुराये। अब तो यह चीज असह्य होगई और अन्त में उन्होंने यह तय किया कि सारी चीज पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा-याचना करनी चाहिए। न जाने पिता को कितनी चोट लगे गांधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा किस्सा पत्र में लिखकर उसे पिता के हाथ में रखा। पिता ने पढ़ा और फूट-फूटकर रोने लगे। गांधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के यह आंसू, चित्त को चोट पहुंची उस दुःख का नतीजा थे या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया उसके आनन्दाश्रु थे? मेरे लिए तो यह अहिंसा

का पाठ था। उस समय मुझे अहिंसा का कोई ज्ञान नहीं था पर आज मैं जानता हूँ कि यह मेरी एक शुद्ध अहिंसा थी। पिता ने क्षमा कर दिया। गांधीजी ने इन बुरी चीजों को तलाक दिया। पिता-पुत्र दोनों का बोझ हल्का हो गया।

इस घटना से गांधीजी के विचारों में क्या-क्या उथल-पुथल हुई कोई नहीं बता सकता। पर अहिंसा का बीज मालूम होता है यहीं से अंकुरित हुआ। मगर गांधीजी उस समय तो निरे बच्चे थे। जब इंग्लैंड जाने लगे तब तो सयाने हो आये थे। पिता का देहान्त हो चुका था। माता के सामने यूरोप जाने से पहले प्रतिज्ञा करली थी कि परदेश में कुछ भी कष्ट हो मांस-मदिरा का सेवन न करूंगा। पर इतने से जात-बिरादरीवालों को कहां सन्तोष हो सकता था? उन लोगों ने इन्हें जाने से रोका। वहां धर्म भ्रष्ट होने का भय है। 'पर मैंने तो प्रतिज्ञा करली है कि मैं अभोज्य भोजन नहीं करूंगा' — गांधीजी ने कहा। पर जातिवालों को कहां सन्तोष होता था? गांधीजी को जात-बाहर कर दिया गया।

गांधीजी इंग्लैंड गये। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वापस लौटे तब जाति-बहिष्कार सामने उपस्थित था। पर मैंने जाति में वापस दाखिल होने की न तो आकांक्षा ही की न पंचों के प्रति मुझे द्वेष ही था। पंच मुझसे नाखुश थे पर मैंने उनका चित्त कभी नहीं दुखाया। इतना ही नहीं जातिवालों के बहिष्कार के सारे नियमों का मैंने सख्ती के साथ पालन किया अर्थात् मैंने स्वयं ही जात-बिरादरीवालों के यहाँ खाना पीना बंद कर दिया। मेरी ससुरालवाले और बहनोई मुझे खिलाना-पिलाना चाहते भी थे पर छुप-छिपकर जो मुझे नापसंद था। इसलिए मैंने इन निकटस्थों के यहाँ पानी पीना तक बंद कर दिया। मेरे इस व्यवहार का नतीजा यह हुआ कि हालांकि जातिवालों ने मुझे बहिष्कृत कर दिया पर उनका मेरे प्रति प्रेम बढ़ गया। उन्होंने मेरे अन्य कार्यों में मुझे

५

गांधीजी में अहिंसा-वृत्ति कब जाग्रत हुई, राजनीति में समाजनीति में और आपस के व्यवहार में इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ, इसके गुणों में श्रद्धा कब हुई यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते हैं कि कितनी ही चीजें जो हमें मालूम होती हैं कि हमारे भीतर अचानक आगईं वे दरअसल धीरे-धीरे पनपी हैं। गुणों के बीज हमारे भीतर रहते हैं जो धीरे-धीरे अंकुरित होते हैं फिर पनपते हैं। इसी तरह दुर्गुणों की भी बात है।

हम देखते हैं कि बचपन से ही गांधीजी के चित्त पर सत्य और अहिंसा के चित्रों की एक अमिट रूप-रेखा खिंच चुकी थी। अत्यन्त बचपन में गांधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर, यह समझकर कि मांसाहार समाज के लिए लाभप्रद है स्वयं भी मांस खाने लगे। उन्हें यह कार्यक्रम चुभने लगा क्योंकि यह काम वह लुक-छिपकर करते थे। उसमें असत्य था और मांस खाना उन्हें रुचिकर भी नहीं था। पर एक बुराई से दूसरी बुराई आती है। मांस खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिए वे घर से चुराये। अब तो यह चीज असह्य होगई और अन्त में उन्होंने यह तय किया कि सारी चीज पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा-याचना करनी चाहिए। न जाने पिता को कितनी चोट लगे गांधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा किस्सा पत्र में लिखकर उसे पिता के हाथ में रक्खा। पिता ने पढ़ा और फूट-फूटकर रोने लगे। गांधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के यह आंसू, जिस को चोट पहुँची उस दुःख का नतीजा थे, या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया उसके आनन्दाश्रु थे? "मेरे लिए तो यह अहिंसा

काफी सहायता पहुँचाई। मेरा यह विश्वास है कि यह शुभ फल मेरी अहिंसा का परिणाम था।

अफ्रीका में गांधीजी ने करीब बीस साल काटे। गये थे एक साधारण काम के लिए वकील की हैसियत से पर वहाँ कालों के प्रति गोरों की घृणा उनका जोर-जुल्म इतना ज्यादा था कि गांधीजी महज सेवा के लिए वहाँ कुछ दिन रुक गये। फिर तो स्वदेशवासियों ने उन्हें वहाँ से हटने ही नहीं दिया और एक-एक करके उनके इक्कीस साल वहाँ बीते। इस अरसे में उन्हें काफी लड़ना पड़ा पर अहिंसा-शस्त्र में जो श्रद्धा वहाँ जमी वह अमिट बन गई। अहिंसा के बड़े पैमाने पर प्रयोग किये उसमें सफलता मिली और जो विपक्षी थे उनका हृदय परिवर्तन हुआ। जनरल स्मट्स जिसके साथ उनकी लड़ाई हुई अन्त में उनका मित्र बन गया। द्वितीय गोलमेज-परिषद् के समय जब गांधीजी लन्दन गये तब स्मट्स वहीं था। उसने कहलाया कि यदि मेरा उपयोग हो सके तो आप मुझसे निस्संकोच काम लें। गांधीजी ने उसका साधारण उपयोग किया भी।

पर अहिंसात्मक उपायों द्वारा शत्रु मित्र के रूप में कैसे परिणत हो सकता है इसका ज्वलन्त उदाहरण गांधीजी की इक्कीस साल की अफ्रीका की तपश्चर्या ने पैदा कर दिया। गांधीजी ने अफ्रीका में सूक्ष्मतया अहिंसा का पालन किया। मार खाई गालियाँ खाईं जेल में सड़े सब-कुछ यंत्रणाएं सहीं पर विपक्षी पर कभी क्रोध नहीं किया धीरज नहीं खोया, हिम्मत तथा छाती ठोंकते गये पर क्रोध त्याग कर। अन्त में सफलता मिली क्योंकि **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**।

समय के बाद घर से निकलने का भी निषेध था। गांधीजी को टहलने-फिरने की काफी आदत थी समय-बसमय घूमना भी पड़ता था। एक रोज प्रेसीडेंट क्रूगर क घर के सामने से गुजर रहे थे तो सन्तरी ने अचानक उन्हें धक्का मारकर पटरी से नीचे गिरा दिया और ऊपर से एक लात लगाई। गांधीजी चुपचाप मार खाकर खड़े हो गये। इन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आया। इनके एक गोरे मित्र म जो पास से गुजर रहा था यह घटना देखी। उसे क्रोध आगया। उसने कहा, 'गांधी मैंने सारी घटना आँखों देखी है। तुम अदालत में इस सन्तरी पर मुकदमा चलाओ मैं तुम्हारा गवाह बनकर तुम्हारी ताईद करूँगा। मुझे दुःख है कि तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार हुआ। गांधीजी ने कहा आप दुखी न हों। मेरा नियम है कि व्यक्तिगत अन्याय के प्रतिकार के लिए मैं अदालत की शरण नहीं लेता। यह बेचारा भूख क्या करे ? यहां की आबहवा ही ऐसी ह। मैं इसपर मुकद्दमा नहीं चलाना चाहता। इसपर उस सन्तरी ने गांधीजी से क्षमा-याचना की।

पर ऐसी तो अनेक घटनाएं हुईं। बीच में कुछ दिनों क लिए स्वदेश आकर गांधीजी अफ्रीका लौटे तब वहां के गोरे अखबारवालों ने इनके सम्बन्ध में बहुत बढ़ा चढ़ाकर झूठी-झूठी बातें अखबारों में लिखीं और गोरी जनता को इनके खिलाफ उभारा। जहाज पर से गांधीजी उतरनेवाले थे उस समय गोरी जनता न इनके खिलाफ काफी प्रदर्शन किया। पुलिस ने और कई इनके मित्रों ने इन्हें कहलाया कि उतरने में खतरा है रात को उतरना अच्छा होगा। जहाज के कप्तान ने कहा 'यदि गोरों न आपको पीटा तो आप अहिंसा से उनका प्रतिरोध कैसे करेंगे ? गांधीजी ने उत्तर दिया 'ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि और शक्ति देगा कि उन्हें मैं क्षमा कर दूं। मुझे उनपर क्रोध नहीं आसकता क्योंकि व

थे। उनके एक-एक रोम के लिए वह भीड़ अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार थी। और एक वह दृश्य था जिसमें गोरी भीड़ गांधी को मार डालने इस बारे में पीछे पागल थी!

गांधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद् के लिए जब गये तो वहां करीब साढ़े तीन महीने रहे। जहां भी गये वहां भीड़ इन-पर मोहित थी प्रेम से मग्न थी। आज यदि वह अफ्रीका भी जाय तो इनके प्रेम के पीछे वहां की गोरी जनता भी पागल हो जाय। यह सब पागलपन इसलिए है कि गांधीजी ने मार खाकर लातें खाकर भी क्षमा-धर्म को नहीं छोड़ा। अफ्रीका की गोरी भीड़ के पागलपन का वह दृश्य हमारी आंखों के सामने आज पर हमें चाहे क्रोध आ जाय पर वही दृश्य था वही घटना थी और ऐसी अनेक घटनाएं थीं, जिन्होंने आज के गांधी को जन्म दिया। ईसामसीह सूली पर न चढ़ता तो उसकी महानता प्रकट न होती। गांधीजी ने यदि शान्तिपूर्वक लात न खाई होती तो उनकी क्षमा कसौटी पर सफल न होती।

गांधीजी महात्मा हैं क्योंकि उन्होंने मारनेवालों के प्रति भी प्रेम किया। मेरी इस वृत्ति ने जिन-जिनके समागम में मैं आया उनसे मेरी मैत्री करा दी। मुझे अक्सर सरकारी महकमों से झगड़ना पड़ता था उनके प्रति सख्त भाषा का प्रयोग भी करना पड़ता था पर फिर भी उन महकमों के अफसर मुझसे सदा प्रसन्न रहते थे। मुझे उस समय यह पता भी न था [illegible] वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। मैंने पीछे यह जाना कि [illegible] यह अंग है और अहिंसा का यह धर्म [illegible] जाना कि मनुष्य और उसके कर्म ये दो भिन्न [illegible] भले [illegible] काम की हम निन्दा और अच्छे की [illegible] मनुष्य के साथ हम दया का [illegible] बर्ताव करना चाहिए। पाप से [illegible] करना का समझ में तो आ

[चीनी चित्रकार द्वा

अज्ञान के शिकार हैं। उन्हें सचमुच मैं बुरा लगता हूँ तब वे क्या करें? और मैं उनपर क्रोध कैसे करूँ?

गांधीजी आखिर जहाज से उतरे। इनका एक गोरा मित्र इनकी रक्षा के लिए इनके साथ हो लिया। इन्होंने पैदल घर पहुँचने का निश्चय किया जिससे किसी तरह की कायरता साबित न हो। बस, गोरी जनता का इन्हें देखना था कि उनके क्रोध का पारा ऊँचा उठने लगा। भीड़ बढ़ने लगी। आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। भीड़ ने इनके गोरे मित्र को पकड़कर इनसे अलहदा करके एक किनारे किया और इनपर होने लगी बौछार—पत्थर, ईंट के टुकड़ों और सड़े अंडों की। इनकी सिर की पगड़ी नोचकर फेंक दी गई। ऊपर से लात और मुक्कों के प्रहार होने लगे। गांधीजी बेहोश हो गये। फिर भी लातों का प्रहार जारी रहा। पर ईश्वर को इन्हें जिन्दा रखना था। पुलिस सुपरिंटेंडेंट की स्त्री ने जो पास से गुजर रही थी इस घटना को देखा। वह भीड़ में कूद पड़ी और अपना छाता तानकर इनकी रक्षा के लिए खड़ी हो गई। भीड़ सहम गई। इतने में तो पुलिस सुपरिंटेंडेंट खुद पहुँच गया और इन्हें बचाकर ले गया। गांधीजी जिन्दा बच गये।

उभरा हुआ जोश जब शान्त हुआ तब सम्भव है लोगों को पश्चात्ताप भी हुआ होगा। ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका की सरकार से कहा कि गुण्डे गोरों को पकड़कर सजा देनी चाहिए। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे किसीसे बैर नहीं है। जब सत्य का उदय होगा तब मुझे मारनेवाले स्वयं पश्चात्ताप करेंगे। मुझे किसीको सजा नहीं दिलवानी है।" आज तो यह कल्पना भी हमारे लिए असह्य है कि गांधीजी को कोई लात मारता या उनको गालियाँ दे।

अब सात बरस की बात है। गांधीजी ने दिल्ली में श्री लक्ष्मीनारायणजी के मन्दिर का उद्घाटन किया था। कोई

एक लाख मनुष्यों की भीड़ थी। तिल रखने को भी जगह नहीं थी। बड़ी मुश्किल से गांधीजी को मन्दिर के भीतर उद्घाटन क्रिया करने के लिए पहुंचाया गया। मन्दिर के बाहर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। वृक्षों की हरी डालियां भी मनुष्यों से लदी पड़ी थीं। भीड़ गांधीजी के दर्शन के लिए आतुर थी। गांधीजी ने मन्दिर के छज्जे पर खड़े होकर लोगों को दर्शन दिये। एक पल पहले ही भीड़ बुरी तरह कोलाहल कर रही थी। पर जहां गांधीजी छज्जे पर आये—हाथ जोड़े हुए, बिल्कुल मौन—वहां भीड़ का सारा कोलाहल बन्द हो गया और सहस्रों कण्ठों से केवल एक ही आवाज एक ही स्वर मगन को भेदता हुआ चला गया—"महात्मा गांधी की जय!"

यह दृश्य विचारपूर्वक देखनेवाले को गद्‌गद कर देता था। मेरी हिचकी बंध गई। मैं विचार के प्रवाह में बहा जा रहा था। सोचता था कि यह कैसा मनुष्य है! छोटा-सा शरीर, अर्द्धनग्न जिसने इतने लोगों को मोहित कर दिया जिसने इतने लोगों को पागल कर दिया! उस भीड़ में शायद दस मनुष्य भी ऐसे न होंगे जिन्होंने गांधीजी से कभी बात भी की हो। पर तो भी उनके दर्शनमात्र से सब-के-सब जैसे पागल हो गये। वृक्षों की डालियों पर हजारों मनुष्य लदे थे जिन्हें अपनी सुरक्षितता का भी भान नहीं था। वे भी केवल 'महात्मा गांधी की जय' बस इसी चिल्लाहट में मगन थे।

एक वृक्ष की डाल टूटी। उसपर पचासों मनुष्य लदे थे। डाल कड़कड़ाती हुई नीचे की ओर गिरने लगी। पर ऊपर चढ़े लोग तो 'महात्मा गांधी की जय' की बुलन्द आवाज में मस्त थे। किसीको अपनी जोखिम का खयाल न था। डाल नीचे आ गिरी। किसीको चोट न आई। एक यह दृश्य था जिसमें 'गांधीजी की जय' चिल्लानेवाले गांधीजी के पीछे पागल

[चीनी चित्रका

जाता है पर व्यवहार में बहुत कम लोग इसके अभ्यस्त हैं। यही कारण है कि संसार में वैर का विष-वृक्ष इतनी सफलता से पनपता है।

अहिंसा सत्य की बुनियाद है। मेरा यह विश्वास दिन पर-दिन बढ़ता जाता है कि यदि वह अहिंसा की भित्ति पर नहीं तो सत्य का पालन असम्भव है। दुष्ट प्रणाली पर हमें आक्रमण करना चाहिए, उससे टक्कर लेनी चाहिए। पर उस प्रणाली के प्रणेता से वैर करना यह आत्म-वैर सरीखा है। हम सब-के-सब एक ही प्रभु की सन्तान हैं। हमारे सबके भीतर एक ही ईश्वर व्याप्त है धर्मात्मा के भीतर और पापी के भीतर भी। इसलिए एक भी जीव को कष्ट पहुँचाना मानो ईश्वर का अपमान और सारी सृष्टि को कष्ट पहुँचाने जैसी बात है।

ये शब्द उस व्यक्ति के हैं जिसने श्रद्धा के साथ अहिंसा का सेवन किया है।

> काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
> महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

गीता में काम एवं क्रोध को दुश्मन बताया है और कहा है कि इन्हें वैरी समझो। पर यह बुराई के लिए घृणा है न कि बुरे के लिए। बुरे के लिए तो दूसरा आदेश है—

> मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(पा. यो. द.)

बुरे अर्थात् पापी के लिए करुणा और उपेक्षा का आदेश है।

६

गांधीजी ने अफ्रीका में जो आश्रम बसाया था, उसका नाम रक्खा था 'टाल्स्टॉय फार्म'। फिर स्वदेश लौटने पर साबरमती में सत्याग्रह आश्रम बसाया और अब सेवाग्राम में आश्रम बनाकर रहते हैं। कुछ संयोग की बात है कि इन सभी आश्रमों में सांप-बिच्छुओं का बड़ा उपद्रव रहा है। गांधीजी स्वयं सर्प को भी नहीं मारते। उन्होंने सर्प मारने का निषेध नहीं कर रखा है पर चूंकि गांधीजी सर्प की हत्या नहीं करते इसलिए और आश्रमवासी भी इस काम से परहेज ही करते हैं।

सेवाग्राम में एक बार रात को एक बहन का पांव बिच्छू पर पड़ा कि बिच्छू ने बड़े जोर से डंक मारा। रात भर वह बहन दर्द के मारे परेशान रही। न अफ्रीका में, न हिन्दुस्तान में—आजतक आश्रम में सर्प ने किसीको नहीं काटा है। पर सर्प आये दिन पांव के सामने आजाते हैं और आश्रमवासी उन्हें पकड़कर दूर फेंक आते हैं। बिच्छू तो कई मर्तबा आश्रमवासियों को डंक मार चुके। एक दिन महादेवभाई ने कहा 'बापू आप सर्प नहीं मारने देते इसलिए आपको कभी बहुत पछताना पड़ेगा। आये दिन सांप आश्रमवासियों के पांवों में आते हैं। अबतक किसीको नहीं काटा पर यदि दुर्घटना हुई और कोई मर गया तो आप कभी अपने आपको सन्तोष न दे सकेंगे।' पर महादेव गांधीजी ने कहा "मैने कब किसीको मारने से मना किया है? यह सही है कि मैं नहीं मारता क्योंकि मुझ आत्मरक्षा के लिए भी सांप को मारना रुचिकर नहीं है। पर अन्य किसीको मैं जोखिम में नहीं डालना चाहता। इसलिए लोगों को मारना हो तो

अवश्य मारें। पर कौन मारे ? गांधीजी नहीं मारते तो फिर दूसरा कौन मारे ?

'हमारे किसी आश्रम में अबतक ईश्वर-कृपा से किसी को साँप ने नहीं काटा। सभी जगह साँपों की भरमार रही है तथापि एक भी दुर्घटना नहीं हुई। मैं इसमें केवल ईश्वर का ही हाथ देखता हूं। कोई यह तर्क न करे कि क्या ईश्वर को आपके आश्रमवासियों से कोई खास मुहब्बत है जो आपके नीरस कामों में इतनी माथा-पच्ची करता होगा? तर्क करने वाले ऐसे तर्क किया करें पर मेरे पास इकरंगे इस अनुभव की व्याख्या करने के लिए सिवाय इसके कि यह ईश्वर का हाथ है, और कोई शब्द नहीं है। मनुष्य की भाषा ईश्वर की लीला को क्या समझा सकती है? ईश्वर की माया तो अवाच्य और अगम्य है। पर यदि मनुष्य साहस करके समझाये तो भी आखिर उसे अपनी अस्पष्ट भाषा ही की तो शरण लेनी पड़ती है। इसलिए कोई चाहे मुझे यह कहे कि आपके आश्रमों में यदि साँप से डसा जाकर अबतक कोई न मरा तो यह महज अकस्मात् था इसे ईश्वर की कृपा कहना एक वहम है पर मैं तो इस वहम से ही चिपटा रहूंगा।

इस तरह गांधीजी की अहिंसा अग्नि-परीक्षा में सफल होकर सान पर चढ़ी है।

महिमा सत्य की बुनियाद है।" प्रायः गांधीजी जब-जब अहिंसा की बात करते हैं तब-तब ऐसा कहते हैं और सत्य पर जोर देते हैं। हमारे यहां आपद्धर्म के लिए कई अपवाद शास्त्रों में विहित माने गये हैं। प्राचीनकाल में जब बारह साल का घोर दुर्भिक्ष पड़ा तब विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर जहां-तहां खाद्य पदार्थ ढूंढ़ने निकले। जब कहीं भी उन्हें कुछ खाने को नहीं मिला तो एक चाण्डाल-बस्ती में पहुंचे और रात को एक चाण्डाल के यहां से कुत्ते का मांस चुराने का निश्चय किया। पर चोरी करते समय उस चाण्डाल की आंख खुल गई और उसने ऋषि से कहा आप यह अधर्म क्यों कर रहे हैं? विश्वामित्र की तो दलील यही थी कि आपद्काल में ब्राह्मण के लिए चोरी भी विहित है।

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं च महीयसा।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः॥

चाण्डाल ने उन्हें काफी धर्मोपदेश दिया। उन्हें समझाया कि आप पाप कर रहे हैं। अन्त में विश्वामित्र उपदेश सुनते सुनते ऊब गये। कहने लगे कि 'मेढकों की टर्राहट से गाय सरोवर में जल पीने से विरत नहीं होती। तू धर्मोपदेश देने का अधिकारी नहीं है इसलिए क्यों वृथा बकवाद करता है?

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥

और क्या मैं धर्म नहीं जानता? यदि जिन्दा रहा तो फिर धर्म-साधन हो ही जायगा पर शरीर न रहा तो फिर धर्म कहां? इसलिए इस समय प्राण बचाना ही धर्म है।

गांधीजी न इस तरह का तर्क कभी नहीं किया। न उन्हें तर्क पसद है।

कुछ काम उन्होंने आत्मा के विरुद्ध किये हैं। जैसे उन्होंने दूध न पीने का व्रत लिया था। व्रत की बुनियाद में कई तरह के विचार थे। दूध ब्रह्मचारी के लिए उपयुक्त भोजन नहीं है यह भी उनका मानना था, यद्यपि हमारे प्राचीन शास्त्रों से यह बात सिद्ध नहीं होती। पर जब व्रत लिया तब गायों पर फूके की प्रथा का अत्याचार, जो कलकत्ते में ग्वालों द्वारा प्रचलित था उनकी आंख के सामने था। व्रत ले लिया। कई सालों तक चला। अन्त में अचानक रोग ने आ घेरा। सबने समझाया कि दूध लेना चाहिए। गांधीजी इन्कार करते गये। गोखले ने समझाया, अन्य डाक्टरों ने कहा पर किसी की न चली। फिर दूसरी बीमारी का आक्रमण हुआ। यह ज्यादा खतरनाक थी। पर दूध के बारे में वही पुराना हठ जारी रहा। एक रोज बा ने कहा "आपने प्रतिज्ञा ली तब आपके सामने गाय और भैंस के दूध का ही प्रश्न था बकरी का तो नहीं था। आप बकरी का दूध क्यों न लें?" गांधीजी ने बा की बात मानकर बकरी का दूध लिया और तबसे बकरी का दूध लेते हैं। पर गांधीजी को यह धोखा है कि उन्होंने बकरी का दूध लेकर भी व्रत-भंग का दोष किया या नहीं।

असल में तो गांधीजी की आदत है कि जो प्रतिज्ञा या व्रत लिया उसका अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ करना और उसपर अटल रहना। यदि किया हुआ काम अनीतियुक्त मालूम हुआ तो झट उस काम से बिना किसी झिझक आग्रह किये हट जाते हैं। पर जबतक उन्हें अपना काम अनीतियुक्त नहीं लगता तबतक छोटी-छोटी चीजों में भी वह परिवर्तन नहीं करते। घूमने जाते हैं तो उसी रास्ते से। सोने का स्थान वही स्नान का स्थान वही बर्तन वही चीजें वही। मैंने देखा है कि दिल्ली आते हैं तो आती बार निजामुद्दीन स्टेशन पर उतरते

हैं और जाती बार बड़े स्टेशन पर गाड़ी में सवार होते हैं। मेरे यहाँ ठहरते हैं तो उसी कमरे में जिसमें बार-बार ठहरते आये हैं। मोटर बदलना भी नापसन्द है। किसी भी आदत को आसानी से नहीं बदलते। छोटी चीजों में भी एक तरह की पकड़ है।

सत्य मेरा सर्वोत्तम धर्म है जिसमें सारे धर्म समा जाते हैं। सत्य के माने केवल वाणी का सत्य नहीं है, बल्कि विचार में भी सत्य। मिश्रित सत्य नहीं पर यह नित्य शुद्ध सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य जो ईश्वर है। ईश्वर की तरह-तरह की व्याख्याएं हैं क्योंकि उसके अनेक स्वरूप हैं। इन व्याख्याओं को सुनकर मैं आश्चर्यचकित हो जाता हूं और स्तब्ध भी हो जाता हूं। पर मैं ईश्वर को सत्यावतार के रूप में पूजता हूं। मैंने उसे प्राप्त नहीं किया है। पर उसकी मैं खोज में हूं। इस खोज में मैं फना होने को भी तैयार हूं। पर जब तक मैं शुद्ध सत्य नहीं पा लेता तबतक उस सत्य का जिसको मैं सत्य मानता हूं अनुसरण करता हूं। इस सत्य की राह सीधी और उस्तरे की धार की तरह पैनी है। पर मेरे लिए यह सुगम है। चूंकि मैंने सत्य-मार्ग को नहीं छोड़ा ... मूर्खता जितनी बड़ी मूर्ख भी मुझे ... नाश न ... सकी।

गांधीजी बचपन में बड़ी लज्जाशील प्रकृति के थे। दस बीस दोस्तों के बीच भी उनका मुंह नहीं खुलता था और सार्वजनिक सभा में तो उनकी जबान एक तरह से बंद हो जाती थी। लन्दन में जब वह विद्याध्ययन में लगे थे तब छोटी छोटी सभाओं में खड़े होकर बोलने का मौका आया तो जबान ने उनका साथ न दिया। लोगों ने इनकी शर्मीली प्रकृति का मजाक उड़ाया। इन्हें भी इसमें अपमान लगा पर यह चीज जवानी तक बनी रही। बैरिस्टर बनकर भारत लौटने पर भी यह कमी बनी रही। बम्बई की अदालत में एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए खड़े हुए तो घिग्घी बंध गई। मुवक्किल को कागज वापस लौटाकर इन्होंने अपने घर का रास्ता नापा।

यह शर्माऊ प्रकृति क्यों थी? आज गांधीजी की जबान धारा-प्रवाह चलती है। पर उस धाराप्रवाह में एक शब्द भी निरर्थक नहीं आता। क्या यह शर्माऊ प्रकृति सत्य का दूसरा नाम था? क्या उनकी हिचकिचाहट इस बात की द्योतक थी कि वह बोलों को तौल-तौलकर निकालना चाहते थे और क्या इस शर्माऊ प्रकृति ने सत्य की जड़ को नहीं पोसा? 'सिवा इसके कि मेरे शर्माऊपन के कारण मैं बाज-बाज लोगों के मजाक का शिकार बन जाता था, मेरी इस प्रकृति से मुझे कभी हानि नहीं हुई। उल्टा मेरा तो खयाल है कि इससे मुझे लाभ ही हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं शब्दों की किफायत करना सीख गया। स्वभावतः मेरे विचारों पर एक तरह का अंकुश आ गया और अब मैं यह कह सकता हूं कि शायद ही कोई विचारहीन शब्द मेरी जबान या कलम से निकलते हैं। मुझे ऐसा स्मरण नहीं कि जो कुछ मैंने कभी कहा या लिखा उसके लिए मुझे पश्चात्ताप करना पड़ा हो। अनुभव ने मुझे यह बताया कि मौन सत्य के पुजारी के लिए आत्मनिग्रह का एक जबरदस्त साधन है। अतिशयोक्ति या सत्य को

दबाने या विकृत करने की प्रवृत्ति मनुष्य में अक्सर पाई जाती है। मौन एक ऐसा शस्त्र है जो इन कमजोर आदतों का छेदन करता है। जो कम बोलता है वह हर शब्द को तौल-तौलकर कहता है और इसलिए विचारहीन वाणी का कभी प्रयोग नहीं करता। मेरी इस लज्जाशील प्रकृति ने मेरी सत्य की खोज में मुझे अत्यन्त सहायता दी है।"

भगवान जिसके सिरपर हाथ रखते हैं उसके दूषण भी उसके लिए भूषण बन जाते हैं। शिव ने विषपान करके ससार का मंगल किया। इसके कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया। पर उसने शिव के सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया और शंकर नीलकंठ कहलाये। गांधीजी की लज्जाशील प्रकृति ने मालूम होता है उनके लिए कई अच्छी चीजें पैदा करदीं—शब्दों की किफायतशारी और तौल-तौलकर शब्दों का प्रयोग।

सत्य में गांधीजी की इतनी श्रद्धा जम गई थी कि वह उनका एक स्वभाव-सा बन गया। सत्य के काम को वह युवावस्था में ही हृदयंगम कर चुके थे। जब लन्दन गये तब अभोज्य भोजन और ब्रह्मचर्य के विषय में माता के सामने प्रतिज्ञा करके गये थे। चूकि सत्य पर वह दृढ़ थे उन्हें इस प्रतिज्ञा को निबाहने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। सत्य के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हें गड्ढों में गिरने से बचा लिया।

८

'ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मैं उसी रूप का पुजारी हूँ जो सत्य का अवतार है—वह नित्य सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणों में कई जगह कहा है कि ब्रह्मा विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि गांधीजी की अहिंसा सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु हैं। रामनाम के माहात्म्य को गांधीजी ने पीछे पहचाना पर इसमें श्रद्धा पहले हुई।

कहते हैं कि गांधीजी को बचपन में भूत का डर लगता था इसलिए वह समय-कुसमय अंधेरे में जाने से डरते थे। पर उनकी नौकरानी रंभा ने उन्हें बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गांधी को यह एक नया शस्त्र मिला और उसमें श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अंधी थी ज्ञानविहीन थी वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद में उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैंने देखा है कि गांधीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जमाई लेते हैं या अंगड़ाई लेते हैं, तो लम्बी सांस लेकर "हे राम हे राम' ऐसा उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके 'हे राम हे राम' में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है कुछ पुकार होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा कि क्या यह यह कहते होंगे 'हे राम अब बुड्ढे को क्यों ऐसी बैल की तरह जोत रक्खा है? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिए मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति में विलम्ब क्यों?

सांपों में किसीको नहीं काटा यह ईश्वरीय चमत्कार। छोटी मोटी कोई घटना होती है तो वह कहते हैं— 'इसमें ईश्वर का हाथ है।

गांधी-अरविन-समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों को एक लम्बा बयान दिया जो उस समय एक अत्यन्त महत्त्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हें खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा। पर ज्योंही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी मानो सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज-परिषद् में उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों में से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होंने कोई सोच-विचार नहीं किया था। वैसे तो उनके लिए यह साधारण घटना थी पर दोनों घटनाओं के पश्चात् जब मैंने कहा 'आपका यह वक्तव्य अनुपम था आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था।'—तो उन्होंने कहा "इसमें ईश्वर का हाथ था।

हम लोग भी यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो शायद यह कहेंगे 'हां आपकी दया से अच्छा हुआ' या "ईश्वर का अनुग्रह था। पर हम लोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते हैं तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात होती है। किन्तु गांधीजी जब यह कहते हैं कि 'इसमें ईश्वर का हाथ था' तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते हैं। उनकी श्रद्धा एक चीज है केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नहीं।

एक इनका प्रिय साथी है जो दुश्चरित्र है। उसको यह अपने घर में रखते थे। यह अफ्रीका की घटना है। यद्यपि वह साथी चरित्रहीन था पर उसपर निर्भय होकर गांधीजी विश्वास करते थे। उसकी कुछ त्रुटियों का इन्हें भान था पर इन्हें यह विश्वास था कि वह इनकी संगति से सुधर जायगा।

एक रोज इनका नौकर दफ्तर में पहुँचता है और कहता है कि जरा आप घर चलकर देखें कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा दे रहा है। गांधीजी घर आते हैं और देखते हैं कि उस विश्वासपात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है! इन्हें सदमा पहुँचता है। उस साथी को घर से हटाते हैं। उसके प्रति इन्हें प्रेम था। उसका सुधार करने के लिए ही उसे पास टिका रक्खा था। इनके लिए यह भी एक कर्तव्य का प्रयोग था। पर इसका जिक्र करते समय यही कहते हैं 'ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। मेरा उद्देश्य शुद्ध था इसलिए भगवान ने मुझे भविष्य के लिए चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलों से बचा लिया।' यह सारा किस्सा इनके आत्मविश्वास और भूल साबित होने पर अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है।

एक घटना मणिलाल भाई के जो इनके द्वितीय पुत्र हैं [illegible] जिसे मैं [illegible] गांधीजी के [illegible] उल्लेख करता हूँ—

सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो लड़के को हम दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी वस्तु में बतलायेंगे ?

डाक्टर बोले—तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा सन्तोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू परिवारों में जाया करता हूं, पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूं कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।

'आप जो कहते हैं वह तो ठीक है। और आपको ऐसा करना ही चाहिए, पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता, पर यहां तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपका इलाज तो मैं नहीं करूंगा, पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों को मैं करना चाहता हूं, परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ कराते रहें तो मैं आपका उपकार मानूंगा।

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये और मेरी

सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी वस्तु न बतलायेंगे ?

डाक्टर बोले—तुम्हारे लड़के की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है पर उससे पूरा सन्तोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू परिवारों में जाया करता हूँ पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हें देते हैं और व उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।

'आप जो कहते हैं वह तो ठीक है। और आपको ऐसा करना ही चाहिए पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता पर यहाँ तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो या गलत मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूँ। आपका इलाज तो मैं नहीं करूँगा पर मुझे इस बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों को मैं करना चाहता हूँ परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ कराते रहें तो मैं आपका उपकार मानूँगा।

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गय और मेरी

इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को दवाने के लिए आना मंजूर कर लिया

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नहीं था तो भी डाक्टर के साथ वाली मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरवा नहीं पीऊंगा और न अंडे ही खाऊंगा। उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीज खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मैं कूने के उपचारों को जानता था उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है यह मैं जानता था। कूने की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटिस्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारंगी के रस में पानी मिलाकर देता रहा और उसीपर रखा।

बुखार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था। बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं घबराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टर को क्यों न बुलाया जाय? क्यों न बुलाऊं? मां-बाप को अपनी अधूरी अक्ल आजमाने का क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—'जीव! जो तू अपने लिए करता है वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो दे देते नहीं। उनके भी तो आखिर ये प्रयोग ही न हैं? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भीगी चादर की पट्टी में रखा जाय। मैं उठा कपड़ा लिया ठंडे पानी में उसे डुबोया और निचोड़कर उसमें पैर से लेकर सिर तक उसे लपेट दिया और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये सिर पर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ को सौंप कर आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताजगी और शान्ति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ चला गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों की आमदरफ्त कम हो गई थी पर मुझे इसका खयाल न था। विचार-सागर में गोते लगा रहा था—'हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना। मुँह से 'राम राम' की रटन तो चल ही रही थी। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा। मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—बापू! आ गये?

'हाँ भाई।

मुझे इसमें से निकालिए न? मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूँ।

क्यों पसीना छूट रहा है क्या?

अजी मैं तो पसीने से तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए न?

मैंने मणिलाल का सिर छुआ। उसपर मोती की तरह पसीने की बूँदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

मणिलाल घबराओ मत। अब तेरा बुखार चला जायगा पर कुछ और पसीना आ जाय तो कैसा? मैंने उससे कहा।

'मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं पर जब मैं अपने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे कामों का लेखा लगाता हूँ तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गये थे ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं होगा। मैंने ईश्वर का दर्शन नहीं किया पर उसमें मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप ले लिया है। शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना यह सत्य की फजीहत होगी। इसलिए मैं कहूँगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिए मेरे पास और कोई शब्द नहीं है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भी यही 'रामनाम' साधकों के सामने रख देते हैं। "बिना उस प्रभु की शरण में गये विकारों पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न में हर पल मैं इस सीधे-सादे सत्य का अनुभव कर रहा हूँ।

बा को अफ्रीका में भयंकर बीमारी ने आ घेरा तब मांस के शोरबे का प्रश्न आया। बा और गांधीजी दोनों ने डाक्टर की राय को अस्वीकार किया। वहाँ भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहाँ भी गांधीजी के यही उद्‌गार थे। 'ईश्वर में विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा' और अन्त में विजय हुई।

पर इससे भी छोटी घटनाओं में गांधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते हैं। स्वदेश लौट आने के बाद जब-जब वह दौरे पर जाते थे तब तब थर्ड क्लास में ही यात्रा करते थे। उस जमाने में गांधीजी के नाम से तो काफी लोग परिचित हो गये थे पर आज की तरह सूरत शक्ल से सब लोग उन्हें पहचानते नहीं थे। जहाँ जाते थे वहाँ लोगों को पता लगने पर कार्यार्थियों की तो भीड़ लग जाती थी जिसके मारे उन्हें [illegible] मिलना दूभर हो जाता था पर गाड़ी में जहाँ लोग

बा

उसने कहा—'नहीं बापू ! अब तो मुझे छुड़ाइए । फिर देखा जायगा ।

मुझे धैर्य आ गया था इसीलिए बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली । मैंने चद्दर को अलग किया और शरीर को पोंछकर सूखा कर दिया । फिर बाप-बेटे दोनों सो गये । दोनों खूब सोये ।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया था । दूध पानी तथा फलों पर चालीस दिन तक रखा । मैं निडर हो गया था । बुखार हठीला था पर वह काबू में आ गया था । आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है ।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की ? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी । यही मैं माना और आज भी मानता हूँ ।

मुझे तो लगता है और शायद औरों को भी लगे कि गांधीजी का यह प्रयोग 'ऊँट-वैद्य' या 'नीम-हकीम' का-सा प्रयोग था । यह जोखिम उठाना उचित नहीं था । पर डाक्टर कहाँ शर्तिया इलाज करता है और जो चीज धर्म के विपरीत हो उसे हम जान बचाने के लिए भी कैसे करें ?

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गये । यह भी एक साधारण घटना थी । पर इसका जिक्र करने में भी यही [illegible] आता है । मेरे प्रयोग पूर्णतः सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नहीं है । पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहाँ कर सकते हैं ? मैं इन बातों का जिक्र इसी नीयत से करता हूँ कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे उसे स्वयं अपने ऊपर ही उसका आरम्भ करना चाहिए । ऐसा करने से सत्य की प्राप्ति

शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।'

ये वचन निश्चय ही सांसारिक मापतौल के हिसाब से अव्यावहारिक हैं। सांसारिक मापतौल अर्थात्—जिसे लोग सांसारिक मापतौल मानते हैं। क्योंकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार दोनों असंगत वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। यदि अध्यात्म की संसार से पटरी न खाये तो वह फिर कोरी कल्पना की चीज रह जाता है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते हैं कि जो क्षेत्र हमारा नहीं है उसमें पड़ने का हमें अधिकार ही कहां है? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नहीं हैं, पर यह भी कहा जा सकता है कि जिसने डाक्टरी नहीं सीखी वह डाक्टर से कहीं अपूर्ण है। पर गांधीजी इसका जवाब यह देंगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे हैं कि लाभ कम करें या ज्यादा, हानि तो कर ही नहीं सकते।

मैंने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगों के प्रति उनकी रुचि कम नहीं हुई है। आज भी आश्रम में यक्ष्मा के रोगी हैं, कुष्ठ के रोगी हैं और कई तरह के रोगी हैं और उनकी चिकित्सा में गांधीजी रस लेते हैं। इसमें भावना तो सेवा की है। रोगियों की सेवा और पतितों की रक्षा यह उनकी प्रवृत्ति है। पर शायद जान-अनजान उनके चित्त में यह भी भावना है कि गरीब मुल्क में ऐसी चिकित्सा जो सस्ती हो, जो गांव-गांव में भी की जा सके, जिसमें विशेष व्यय न हो, बजाय कीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी हैं। उसमें से कोई उपयोगी वस्तु ढूंढ निकालने का काम कम हो रहा है। और चूंकि ये प्रयोग सेवा के लिए सेवा की दृष्टि से होते हैं, यदि ये भगवान के भरोसे न हों तो काफी सफल-निष्फल और अप्राप्ति का पता चल सकता है। जो हो, कहना तो यह था कि गांधीजी का ईश्वर श्रद्धा हर काम में हर समय कैसे उपस्थित रहती है।

"मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं पर जब मैं अपने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे कामों का लेखा लगाता हूँ तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गये थे ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं होगा। मैंने ईश्वर का दर्शन नहीं किया पर उसमें मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप ले लिया है। शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना यह सत्य की फजीहत होगी। इसलिए मैं कहूँगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिए मेरे पास और कोई शब्द नहीं है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भी वही 'रामनाम' साधकों के सामने रख देते हैं। 'बिना उस प्रभु की शरण में गये विचारों पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न में हर पल मैं इस सीधे सादे सत्य का अनुभव कर रहा हूँ।

या जो अफ्रीका में भयंकर बीमारी ने आ घेरा तब मांस के शोरबे का प्रश्न आया। बा और गांधीजी दोनों ने डाक्टर की राय को अस्वीकार किया। वहां भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहां भी गांधीजी के वही उद्गार थे। 'ईश्वर में विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा' और अन्त में विजय हुई।

पर इसमें भी छोटी घटनाओं में गांधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते हैं। स्वदेश लौट आने के बाद जब जब वे दौरे पर जाते थे तब-तब वह तमाम में ही यात्रा करते थे। उस जमाने में गांधीजी के नाम से तो काफी लोग परिचित हो गये थे पर आज की तरह भुग्गा-भरत से सब लोग उन्हें पहचानते नहीं थे। जहां जाने थे वहां मार्गों को पता लगने पर स्थानार्थियों की ना भीड़ लग जाती थी जिसके मारे उन्हें बचाव मिलना दुश्वार हो जाता था पर गाड़ी में जहां लोग

बा

जबकि मुझे उसकी सख्त जरूरत थी ।

निरीह गोरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों के कष्ट काटने के लिए वह जब चम्पारन जाते हैं तो किसानों की सभा करते हैं । दूर-दूर से किसान मीटिंग में आकर उपस्थित होते हैं । गांधीजी जब उस मीटिंग में जाते हैं तब उन्हें लगता है मानो ईश्वर के सामने खड़े हैं । "यह कहना अत्युक्ति नहीं बल्कि अक्षरशः सत्य है कि उस सभा में मैंने ईश्वर अहिंसा और सत्य दोनों के साक्षात् दर्शन किये । और फिर जब पकड़ जाते हैं तो हाकिम के सामने जो बयान देते हैं वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है । उसमें भी अन्त में कहते हैं श्रीमान मजिस्ट्रेट साहब मैं जो कुछ कह रहा हूं वह इसलिए नहीं कि आप मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सजा दें । मैं केवल यही बता देना चाहता हूं कि मैंने आपकी आज्ञा भंग की वह इसलिए नहीं कि मेरे दिल में सरकार के प्रति इज्जत नहीं है पर इसलिए कि ईश्वर की आज्ञा के सामने मैं आपकी आज्ञा मान ही नहीं सकता था ।

ये असाधारण वचन हैं । एक तरह से भयंकर भी हैं । क्या हो यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाय ? 'अन्तरात्मा की आवाज' 'अन्तर्नाद' या 'आकाशवाणी' सुनना हरेक की किस्मत में नहीं बदा होता । इन चीजों के लिए पात्रता चाहिए । कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिए । सत्य चाहिए । साहस चाहिए । विवेक चाहिए । समानत्व चाहिए । अपरिग्रह चाहिए । जो केवल सेवा के लिए ही जिन्दा है जिसे हानि लाभ से कोई आसक्ति नहीं जिसने कर्मयोग को साधा है जिसको ईश्वर में असीम श्रद्धा है जिसको अभिमान छू तक नहीं गया वही मनुष्य अन्तर्नाद सुन सकता है । पर झूठी नकल तो सभी कर सकते हैं मुझे अन्तरात्मा की आवाज कहती है ऐसा कथन करने लोग लगे हैं । गांधीजी की झूठी

आचरण द्वारा पहुंचाना है ।

गांधीजी में जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया । हिन्दू-धर्म की खोज की । ईसाई-मत का अध्ययन किया । इस्लाम के ग्रंथ पढ़े । जरथुस्त्र की रचनाएं पढ़ीं । चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्षपात के सब धर्मों के तत्त्वों को समझने की कोशिश की । आसक्ति रहित होकर सत्यपथ को जो गुफा में छिपा था जानने का प्रयत्न किया । धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् । इससे उनकी निरपेक्षता बढ़ी उनका प्रयत्न तेजस्वी बना पर उन्हें सत्य मिला । उनमें बल आया । उनमें नीर-क्षीर-विवेक आया । साथ ही निश्चयात्मक बुद्धि भी प्रबल हुई । उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे । अन्तर्नाद सुनाई देने लगा । इस अन्तर्नाद की चर्चा में उनका संकोच भागा ।

पर क्या वह हवा में उड़ते हैं? क्या वह अव्यावहारिक बन गये हैं? तो फिर यह भी पूछा जाय कि क्या एक नेता भी अव्यावहारिक होता है? गांधीजी इकहत्तर साल के हो चुके। इन इकहत्तर बरसों में इन्होंने इतना नाम पाया जितना अपने जीवन में किसी महापुरुष ने नहीं कमाया। संसार इन्हें एक महात्मा की अपेक्षा एक महान् राजनीतिज्ञ नेता के रूप में ज्यादा जानता है। संकुचित विचार के अंग्रेज इन्हें एक छलिया फरेबी पेचीदा और कूट राजनीतिज्ञ समझते हैं। कट्टरपंथी मुसलमान इन्हें एक धूर्त और चालबाज हिन्दू समझते हैं जिसका उद्देश्य है हिन्दूराज की स्थापना। इससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि यह कोई हवाई उड़ानवाला अव्यावहारिक पुरुष तो नहीं है। भारत की नाव का जिस चातुरी धीरज और हिम्मत के साथ इन्होंने पहले बीस साल अफ्रीका में और फिर पच्चीस साल स्वदेश में संचालन किया उसे देखकर चकित होना पड़ता है। यह कोई अव्यावहारिक मनुष्य का काम नहीं था। इनका राजनीति में इन बीस बरसों में एकछत्र राज रहा है। किसीने उन्हें चुनौती नहीं दी और यदि दी तो वह स्वयं गिर गया। गांधीजी राजनीति में आज एक अत्यावश्यक एवं अपरिहार्य व्यक्ति बन गये हैं। क्या यह हवा में विचरने का लक्षण है? इनके पास सिवा प्रेम के बल के और कौन-सा बल है? पर इस प्रेम के बल से इनके अनुयायियों के दिलों में इनका सिक्का जमा लिया है। इनके विरोधियों पर इस प्रेम की छाप पड़ी है। ऐसे राजनीतिज्ञ नेता को कौन अव्यावहारिक कहेगा? या मनुष्य देह के मामलों में एक जोरदार राजनैतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक

प्रगति पदा कर दे और उन्हें इन क्षेत्रों में बड़े जोर से उठाये उसे भला कौन हवाई किले का बाशिंदा कहेगा? मेरा खयाल है गांधीजी से बढ़कर चतुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कम देखने में आते हैं।

पर असल बात तो यह है कि गांधीजी के जीवन में राजनीति गौण है। असल चीज तो उसमें है धर्मनीति। राजनीति उन्होंने धारण की क्योंकि यह भी उनके लिए मोक्ष का एक साधन है। खादी क्या हरिजन-कार्य क्या जल-चिकित्सा क्या और बछड़े की हत्या क्या सारी-की-सारी उनकी हलचलें मोक्ष के साधन हैं। लक्ष्य उनका है—ईश्वर-साक्षात्कार। उपर्युक्त सब व्यवसाय उनके लिए केवल साधन हैं। गांधीजी को जो केवल एक राजनीतिक नेता के रूप में देखते हैं, उनके लिए गांधीजी की ईश्वर की रटंत उनकी प्रार्थना उनका अनशन उनकी अहिंसा उनकी अन्य सारी आध्यात्मिकता ये सब चीजें पहेली हैं। जो उन्हें आत्मज्ञानी के रूप में देखते हैं उनके लिए उनकी राजनीति केवल साधनमात्र दिखाई देती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

गीता के इस तत्त्व को समझकर हम गांधीजी का अध्ययन करें तो फिर वह पहेली नहीं रहते।

तो क्या एक अध्यात्मवादी राजनीति का सुचारु रूप से संचालन कर सकता है? यह प्रश्न कई लोग करते हैं।

इसका उत्तर यही है कि यदि नहीं संचालन कर सकता तो क्या एक झूठा अकर्मण्य लोभी स्वार्थी अधार्मिक आदमी कर सकता है? यदि एक निःस्वार्थ ईश्वर भक्त मनुष्य राजनीति का संचालन नहीं कर सकता, तो फिर गीता को पढ़कर हम लोगों को टोकरी में फेंक देना चाहिए। यदि राजनीति झूठ और छल-प्रपंच की ही एक कला है तो फिर यही धर्मसम्मत जाय न कोई मान सही।

हमने गलती से यों मान रखा है कि धर्म और राजनीति य दो असंगत वस्तुएं हैं। गांधीजी ने इस भ्रम का छेदन किया और अपने आचरणों से हमें यह दिखा दिया कि धर्म और अर्थ दो चीजें नहीं हैं। सबसे बड़ा अर्थ है परम+अर्थ=परमार्थ। गीता ने जो कहा उसका आचरण गांधीजी ने किया। जिस चीज को हम केवल पाठ की वस्तु समझते थे वह आचरण की वस्तु है, कोरी पाठ की नहीं गांधीजी ने हमें यह बताया। गांधीजी ने कोई नई बात नहीं की। राजनीति और धर्मनीति का जिस तरह श्रीकृष्ण ने समन्वय किया जिस तरह जनक ने राजा होकर विरक्त का आचरण किया उसी तरह कर्मयोग को गांधीजी ने अपने आचार द्वारा प्रत्यक्ष किया। जिस तलवार में जंग लग चुका था उसे गांधीजी ने फिर से सान पर चढ़ाकर नया कर दिया।

उन्नीस अप्रैल सन् १९३३ की बात है। उन दिनों हरिजन समस्या गांधीजी का काफी हृदय-मंथन कर रही थी। यरवदा पैक्ट के बाद देश में एक नई लहर आ रही थी। जगह-जगह उच्चवर्ण हिन्दुओं में हजारों साल तक हरिजनों के प्रति किये गए अत्याचारों के कारण आत्मग्लानि जाग्रत हो रही थी। हरिजन-सेवक-संघ जोर-शोर से अपना सेवा-कार्य विस्तृत करता जा रहा था। गांधीजी के लेखों ने हरिजन-कार्य में एक नई प्रगति ला दी थी। सत्याग्रह तो ठंडा पड़ चुका था। वाइसराय विलिंग्डन ने मान लिया था कि गांधीवाद का सदा के लिए खात्मा होने जा रहा है। पर प्रधान मन्त्री रेम्जे मैकडानल्ड के निर्णय के विरुद्ध गांधीजी के आमरण उपवास ने एक ही क्षण में आए हुए शैथिल्य का नाश करके एक नया चैतन्य ला दिया। लोगों ने राजनैतिक सत्याग्रह को तो वहीं छोड़ा और चारों तरफ से हरिजन-कार्य में उमड़ पड़े। यह एक चमत्कार था। वर्षों से गांधीजी हरिजन-कार्य का प्रचार करते थे पर उच्च वर्ण हिन्दुओं की आत्मा को वह जाग्रत नहीं कर सके थे। जो काम वर्षों में नहीं हो पाया था अब वह अचानक हो गया।

पर जैसे हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती है वैसे ही हरिजन कार्य के सम्बन्ध में भी हुआ। एक तरफ हरिजनों के साथ जहां खासी सहानुभूति बढ़ी तो दूसरी ओर कट्टर विचार के सनातनी लोगों में कटुता बढ़ी।

हरिजनों के साथ जो दुर्व्यवहार होते थे वे बाहरी और नई शिक्षा के लोगों के लिए कल्पनातीत हैं। इन सात वर्षों में उच्चवर्ण हिन्दुओं की मनोभूमि में आशातीत परिवर्तन हुआ है। पर उन दिनों स्थिति काफी भयंकर थी। दक्षिण में तो केवल

अस्पृश्यता ही नहीं थी बल्कि कुछ किस्म के हरिजनों को तो देखनेमात्र में पाप माना जाता था। हरिजनों को मोसर-मोसर पर हलवा नहीं बनाने देना घी की पूरी नहीं बनाने देना पांव में चांदी का कड़ा नहीं पहनने देना घोड़े पर नहीं चढ़ने देना पक्का मकान नहीं बनाने देना ये साधारण दुर्व्यवहारों की श्रेणी में गिने जानेवाले अत्याचार तो प्रायः सभी प्रांतों और प्रदेशों में उन दिनों पाये जाते थे जो अब काफी कम हो गये हैं।

हरिजनों ने जब इस जाग्रति के कारण कुछ निर्भयता दिखानी शुरू की तो कट्टर विचार के लोगों में क्रोध की मात्रा उफन पड़ी। जगह-जगह हरिजनों के साथ मारपीट होने लगी। गांधीजी के पास ये सब समाचार जेल में पहुंचते थे। उनका विषाद इन दुर्घटनाओं से बढ़ रहा था। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का कलंक है और उच्चवर्णवालों के सिर पर इस पाप की जिम्मेदारी है ऐसा गांधीजी बराबर कहते आये। हरिजनों के प्रति सद्व्यवहार करके हम पाप का प्रायश्चित्त करेंगे ऐसा गांधीजी का हमेशा से कथन था। गांधीजी स्वयं उच्चवर्णीय हैं इसलिए यह अत्याचार उन्हें काफी पीड़ित कर रहा था। हृदय में एक तूफान चलता था। क्या करना चाहिए, इसके सकल्प विकल्प चलते थे। पंडितों से पत्र-व्यवहार चल रहा था।

'ईश्वर यह अत्याचार क्यों चलने देता है ? रावण राक्षस था पर यह अस्पृश्यता-रूपी राक्षसी तो रावण से भी भयंकर है और इस राक्षसी की धर्म के नाम पर जब हम पूजा करते हैं तब तो हमारे पाप की गुरुता और भी बढ़ जाती है। इससे हब्शियों की गुलामी भी कहीं अच्छी है। यह धर्म—इसे धम कहें तो—मेरी नाक में तो बदबू मारता है। यह हिन्दूधर्म हो ही नहीं सकता। मैंने तो हिन्दूधर्म द्वारा ही ईसाईधर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा है। फिर यह पाप हिन्दूधम का अंग कैसे हो सकता है ? पर क्या किया जाय ?

इस तरह के विचार करते-करते गांधीजी २९ अप्रैल की रात को जेल में सोये। कुछ ही देर सोये होंगे। इतने में रात के ११ बजे। जेल में सन्नाटा था। बसंत का प्रवेश हो चुका था। रात सुहावनी थी। मीठी हवा चल रही थी। कैदी सब सो रहे थे। केवल प्रहरी लोग जाग्रत थे। ११ बजे के कुछ ही समय बाद गांधीजी की आँख खुली। नींद भाग गई। चित्त में महासागर का-सा तूफान हिलोरें खाने लगा। बेचैनी बढ़ने लगी। ऐसा मालूम होता था कि हृदय के भीतर एक संग्राम चल रहा है। इसी बीच एक आवाज सुनाई दी। मालूम होता था कि यह आवाज दूर से आ रही है पर तो भी ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कोई निकट से बोल रहा हो। पर वह आवाज ऐसी थी जिसकी हुक्मउदूली असम्भव थी। आवाज ने कहा— उपवास कर। गांधीजी ने सुना। उनको सन्देह नहीं रहा। उनको निश्चय हो गया कि यह ईश्वरीय वाणी है। अब संग्राम शान्त हो गया। बेचैनी दूर हुई। गांधीजी स्वस्थ हो गये। उपवास कितने दिन का करना तथा कब आरम्भ करना इसका निर्णय करके उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना [illegible] और फिर गाढ़ निद्रा में मग्न होकर सो गये।

दिनों बाद प्राण सङ्कट में आ गये थे इसलिए इस उपवास से प्राण बचेंगे या नहीं ऐसी अनेक लोगों को शंका थी। पर गांधीजी ने कहा "मुझे मृत्यु की अभिलाषा नहीं है। मैं हरिजनों की सेवा के लिए जिन्दा रहना चाहता हूँ। पर यदि मरना ही है तो भी क्या चिन्ता? अस्पृश्यता की गन्दगी जितनी मैंने आंकी थी उससे कहीं अधिक गहरी है इसलिए यह आवश्यक है कि मैं और मेरे साथी यदि जिन्दा रहना है तो अधिक स्वच्छ बनें। यदि ईश्वर की यह मंशा है कि मैं हरिजनों की सेवा करूँ तो मेरा भौतिक भोजन बन्द होने पर भी ईश्वर मुझे जो आध्यात्मिक भोजन भेजता रहेगा वह इस देह का टिकाव रक्खेगा और यदि सब अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते रहेंगे तो वह भी मेरे लिए भोजन का काम देगा। कोई अपने स्थान से न हटें। कोई मुझे उपवास रोकने को न कहे।

८ मई १९३३ को उपवास शुरू हुआ और २९ मई को ईश्वर की दया से सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। उपवास की समाप्ति के कई दिनों बाद गांधीजी ने कहा "यह उपवास क्या था मेरी इक्कीस दिन की निरन्तर प्रार्थना थी। इसका मेरे ऊपर जो अच्छा असर हुआ उसका मैं अब अनुभव कर रहा हूँ। यह उपवास केवल पेट का ही निराहार न था बल्कि सारी इन्द्रियों का निराहार था। ईश्वर में संलग्न होने के माने हैं तमाम शारीरिक क्रियाओं की अवहेलना और वह इस आत्यन्तिक स्वरूप कि हम केवल ईश्वर के सिवा और सभी चीजों को भूल जायँ। ऐसी अवस्था सतत प्रयत्न और वैराग्य के बाद ही प्राप्त होती है। इसलिए तमाम ऐसे उपवास एक तरह की अव्यभिचारिणी ईश्वर भक्ति है ऐसा कहना चाहिए।

८ का समिरा [illegible] बात है। गांधीजी जेल से छूटकर आये थे। अपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ ही था। शरीर दुर्बल था इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए पूना ठहरे हुए थे।

में रोज उनके साथ टहलता था। पास में बैठता था। घंटों हर विषय पर उनसे चर्चा करता था। एक रोज ईश्वर पर चर्चा चली तो मैंने प्रश्न किया कि क्या आप मानते हैं कि आप ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं?

"नहीं मैं ऐसा नहीं मानता। जब मैं अफ्रीका में था तो मुझे लगता था कि मैं ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुंच गया हूं। पर मुझे लगता है कि उसके बाद मेरी अवस्था उन्नत नहीं हुई है। बल्कि मैं सोचता हूं तो लगता है कि मैं पीछे हटा हूं। मुझे क्रोध नहीं आता ऐसी अवस्था नहीं है। पर क्रोध का मैं साक्षी हूं इसलिए मुझपर क्रोध का स्थायी प्रभाव नहीं होता। पर इतना तो है कि मेरा उद्योग उग्र है। आशा तो यही करता हूं कि इसी जीवन में साक्षात्कार करूं। पर बाजी तो भगवान के हाथ में है। मेरा उद्योग जारी है।"

इन बातों को भी आज सोलह साल होगए। इसके बाद मैंने न कभी कुतूहल किया न ऐसे प्रश्न पूछे। पर मैं देखता हूं कि ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा और आत्मविश्वास उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। पिछले दिनों किसीसे बात करते-करते कहने लगे

"अब मुझसे ज्यादा बहस-मुबाहिसा नहीं होता। मुझे मौन प्रिय लगता है। पर मैं ऐसा नहीं मानता कि मूक वाणी का कोई असर नहीं। असलियत तो यह है कि मूक वाणी की शक्ति स्थूल वाणी से कहीं अधिक बलवती है। लोग सत्याग्रह की बात करते हैं। सत्याग्रह जारी हुआ तो यह निश्चय मानना कि थोड़े काल में जिस तरह मुझे दौरा करना पड़ता था या व्याख्यान देना पड़ता था वैसी कोई क्रिया मुझे अब नहीं करनी पड़ेगी। ऐसा समझ लो कि मैं सेवाग्राम में बैठा हुआ ही मनुष्य कर सकूंगा इतना आत्मविश्वास तो आ चुका है। यदि मुझे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार हो जाय तब तो मैं

इतना भी न करना पड़े। मैंने संकल्प किया कि कार्य बना उस स्थिति के लिए भी मेरे प्रयत्न जारी हैं।"

ये मर्मस्पर्शी वाक्य हैं। हमारे भीतर कैसी अकथ शक्ति भरी है जिसको हम ईश्वर के नाम से भी पुकार सकते हैं, इसका स्मरण हमें ये शब्द कराते हैं।

अमुक काम में ईश्वर का हाथ था ऐसा तो गांधीजी ने कई बार कहा है पर प्रत्यक्ष आकाशवाणी हुई है यह उनका शायद प्रथम अनुभव था। मेरा खयाल है कि ईश्वर पर उनकी असीम श्रद्धा का यह सबसे बड़ा प्रदर्शन था। मैंने उनसे इस आकाशवाणी के चमत्कार पर लम्बी बातें कीं। पर बात करते समय मुझे लगा कि इस चीज को मुझे पूर्णतया अनुभव कराने के लिए उनके पास कोई सुगम भाषा नहीं थी। कितनी भी सुगमता से समझायें कितनी भी प्रबुद्ध भाषा का उपयोग करें आखिर जो चीज भाषातीत है उसको कोई क्या समझाये? जब हम कहते हैं कि एक आवाज आई, तब हम महज एक मानवी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। ईश्वर की न कोई आकृति हो सकती है न शब्द स्पर्श रूप, रस गंध इत्यादि से ईश्वर वाकिफ है। फिर उसकी आवाज कैसी आकृति कैसी? फिर भी आवाज तो आई। उसकी भाषा कौन-सी? वही भाषा जो हम स्वयं बोलते हैं। उसके माने हैं कि हम लगता है कि कोई हममें कुछ कह रहा है। पर ऐसा तो भ्रम भी हो सकता है। 'हां भ्रम भी हो सकता है पर यह भ्रम नहीं था। इसके यह भी माने हुए कि उस 'वाणी' को सुनने की पात्रता चाहिए। एक मनुष्य को भ्रम हो सकता है। अब उस आकाशवाणी का गा तो स्वाहमस्वाह अपयश फैलायगा। इसरा अधिकारी है जानता है। वह कह सकता है कि यह भ्रम नहीं था। आकाशवाणी भी अन्य चीजों की तरह उसका पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिम्ब शीशे पर ही पड़ेगा पत्थर पर नहीं।

इक्कीस दिन का यह धार्मिक उपवास गांधीजी के अनेक उपवासों में से एक था। छोटे-छोटे उपवासों की हम गणना न करें, तो भी अबतक शायद दस-बारह तो इनके ऐसे बड़े उपवास हो चुके हैं जिनमें इन्होंने प्राणों की बाजी लगाई।

जैसे और गुणों के विषय में वैसे ही उपवास के विषय में भी यह नहीं जाना जा सकता कि यह प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हुई। गुलाब का फूल पहले जन्मा या उसकी सुगन्ध ? कौन-सी प्रवृत्ति पहले जाग्रत हुई कौन-सी पीछे इसका हिसाब लगाना यद्यपि दुष्कर है पर इतना तो हम देख सकते हैं कि इनकी माता की उपवासों की वृत्ति ने शायद इनकी उपवास-भावना को जाग्रत किया। इनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थी। उपवासों में उन्हें काफी श्रद्धा थी। छोटे-मोटे उपवास तो सालभर होते ही रहते थे। पर 'चातुर्मास' में तो एक ही बक्त भोजन होता था। 'चांद्रायण' व्रत इनकी माता ने कई किए। एक 'चातुर्मास' में इनकी माता ने व्रत लिया कि सूर्य दर्शन के बिना भोजन नहीं करूंगी। बरसात में कभी-कभी सूर्य कई दिनों तक निकलता ही नहीं था। निकलता भी था तो चन्द मिनटों के लिए। बालक गांधी छत पर बड़े चाव से एकटक सूर्य के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहते और दर्शन होते ही मां को खबर देते। पर कभी-कभी बेचारी मां पहुंच उससे पहले ही सूर्य दबता तो घनाच्छन्न आकाश में लुप्त हो जाते थे। पर मां को इससे असन्तोष नहीं होता था। "बेटा रहने दो चिन्ता को ईश्वर ने ऐसा ही चाहा था कि आज मैं भोजन न करूं।" इतना कहकर वह अपने काम में लग जाती थीं।

बालक गांधी पर इसकी क्या छाप पड़ सकती थी यह हम सहज ही सोच सकते हैं। यह छाप जबर्दस्त पड़ी। पहला उपवास मालूम होता है उन्होंने अफ्रीका में किया जबकि 'टाल्स्टॉय फार्म' में आश्रम बसा रहे थे। यह कुछ दिनों के लिए बाहर थे। पीछे से आश्रमवासियों में से दो के सम्बन्ध में

छुए। फिर तो काम की बातें होने लगीं। उन्होंने बड़ी सावधानी से हर चीज ब्यौरेवार समझाई। उपवास क्योंकर बद हो सकता है यानी होने के बाद कसे समाप्त हो सकता ह इसकी शर्तों का ब्यौरेवार उन्होंने जिक्र किया। बात करने से पहले जहां हमें उनका यह कार्य कुछ आवश्यकता से अधिक कठोर लगता था बात करने पर यह धर्म ह एक कत्तव्य है ऐसा लगने लगा। उनका मानसिक चित्र लेकर हम लोग वापस बम्बई लौटे और पूज्य मालवीयजी और दूसरे नेताओं को सारा हाल सुनाया।

मुझे याद आता है कि उस समय हमारे नेतागण किस तरह अत्यन्त आलस्य के साथ उलझन में पड़े हुए किंकर्तव्य-विमूढ हो रहे थे। न तो गांधीजी का उपवास किसीको पसन्द था न उनकी रचनात्मक समाह की कोई उपयोगिता समझी जाती थी। न किसीको खयाल था कि समय की बरबादी गांधीजी की जान को जोखिम में डाल रही थी। बार-बार यही जिक्र आता था कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह उनका बलात्कार है। उन्हें समझाना चाहिए कि वह अब भी उपवास छोड़ दें। यह कोई महसूस भी नहीं करता था कि न तो वह उपवास छोड़ सकते थे न यह समालोचना का ही समय था। हमारे सामने एक ही प्रश्न था कि कैसे उस गुत्थी को सुलझाकर गांधीजी की प्राण रक्षा की जाय। मुझे स्पष्ट याद है कि नेताओं में एक मनुष्य था जिसका दिमाग कुछ रचनात्मक कार्य कर रहा था। वह थे सर तेज बहादुर सप्रू। पर गांधीजी की प्राण रक्षा का जिम्मा तो वसल म ऱ्यार न स रक्खा था। हम वृथा ही चिन्ता करते थे।

यद्यपि गांधीजी ने उपवास शुरू करने से पहले काफी समय दिया था पर उस समय का कोई भी सार्थक उपयोग न हो सका। गांधीजी स्वयं सोग बारबार अपने हाथ में म ल नम ना कार्य उपयोगी काम होता या नहीं इसमें भी मुझे

इन्हें पता लगा कि उनका नैतिक पतन हुआ है। इससे चित्त को चोट तो पहुंचनी ही थी पर इन्हें लगा कि ऐसे पतन की जिम्मेवारी कुछ हदतक आश्रम के गुरु पर भी रहती है। चूंकि आश्रम के संचालक गांधीजी थे इस दुर्घटना में इन्होंने अपनी जिम्मेदारी भी महसूस की। इसके लिए गांधीजी ने सात दिन का उपवास किया। इसके कुछ ही दिन बाद इसी घटना के सम्बन्ध में इन्हें चौदह दिन का एक और उपवास करना पड़ा।

इसके बाद और अनेक उपवास हुए हैं। स्वदेश लौटने पर ऐसी ही घटनाओं को लेकर एक-दो और उपवास किये। अहमदाबाद की मिल-हड़ताल के लिए एक उपवास किया। हिन्दु-मुस्लिम-ऐक्य के लिए इक्कीस दिन का एक उपवास किया। हरिजनों की सीटों के सम्बन्ध में प्रधान मंत्री मैकडा नल्ड के निर्णय के विरुद्ध एक आमरण उपवास किया और फिर हरिजन प्रायश्चित्त के लिए एक उपवास किया। हरिजन प्रचार कार्य के लिए सरकार ने जेल में इनपर बन्दिश लगा दी तब एक और उपवास किया। हरिजन प्रवास की समाप्ति पर कुछ हरिजन सवर्णों के असहिष्णु व्यवहार के प्रायश्चित्त स्वरूप वर्धा में सात दिन का उपवास किया। एक उपवास राजकोट में किया। प्रधान मंत्री के निर्णय के विरुद्ध जो उपवास किया उसकी सफल समाप्ति में कुछ हिस्सा मेरे भी जिम्मे आया था। इसलिए इस उपवास का निकट से अवलोकन और अध्ययन करने का मुझे काफी मौका मिला।

उन दिनों गांधीजी जेल में ही थे। सत्याग्रह चल रहा था यद्यपि लोगों की थकान बढ़ती जाती थी। अचानक एक बम गिरा—लोगों ने सुना कि गांधीजी ने आमरण उपवास की ठानी है। चारों तरफ खलबली मच गई। मैं तो यह समाचार अखबारों में पढ़ते ही हक्का-बक्का रह गया। गांधीजी का मन मैंने भजा कि क्या करना चाहिए? मैं तो

सहम गया हू । फौरन उत्तर आया 'चिंता की कोई बात नहीं । यह मनाने की बात है । अत्यन्त दलित के लिए यह अन्तिम यज्ञ करने का ईश्वर ने मुझे मौका दिया है । मुझे कोई शंका नहीं कि उपवास स्थगित नहीं किया जा सकता । यहां से कोई सूचना या सलाह भेजने की मैं अपने में पात्रता नहीं पाता ।" किसीकी समझ में नहीं आया कि क्या करना चाहिए पर हमारे सबके मुंह पूना की ओर मुड़े और लोग एक-एक करके वहां पहुचने लगे।

राजाजी देवदास और मैं तो शीघ्र ही पूना पहुच गये। पूज्य मालवीयजी सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर राजेन्द्र बाबू रावबहादुर राजा ये लोग भी एक के बाद एक बम्बई और फिर पूना पहुचने लगे। पीछे से डाक्टर अम्बेडकर को भी बुला लिया गया था । सरकारी आज्ञा लेकर सर पुरुषोत्तमदास सर चुनीलाल मथुरादास वसनजी और मैं सर्वप्रथम गांधीजी से जेल में मिले । हम लोगों को गांधीजी से जेल-सुपरिन्टेंडेंट के कमरे में मिलाया गया। उपवास अभी शुरू नहीं हुआ था। कमरा एकतल्ले पर था । उसकी खिड़कियों में से हमें जेल का काफी हिस्सा दृष्टिगोचर होता था। जहां फांसी होती है वह हाता भी खिड़की में से दिखाई देता था । गांधीजी के आने का रास्ता उसी हाते की दीवार के नीचे से गुजरता था। मैंने गांधीजी को करीब नौ महीने से नहीं देखा था । अचानक खिड़की में से मैंने गांधीजी को तेजी क साथ हमारी ओर आते देखा । मैं सब चिंता भूल गया । गांधीजी तो इस तरह सरपट चल आ रहे थे मानो कुछ हुआ ही नहीं था। उनकी तरफ फांसी का हाता था जहां मैंने सुना दो-तीन दिन पहले ही एक आदमी को लटकाया गया था। मेरा जी भर आया। यह आदमी और ऐसी जगह पर !

गांधीजी ऊपर कमरे में आय । मैंन बड़े प्रेम स पांव

चाक है। उपवास शुरू होते ही सरकार ने जेल के दरवाजे खोल दिये। नतीजा इसका यह हुआ कि गांधीजी से मिलना-जुलना बिना किसी रोक-टोक के होने लगा। इसलिए इस व्यवसाय की सारी बागडोर पूर्णतया गांधीजी के हाथों में चली गई। सरकार का तो यही कहना था कि हरिजन और उच्चवर्ण के लोगों के बीच जो भी समझौता हो जाय उसको वह मान लेगी। इसलिए वास्तविक काम यही था कि उच्चवर्ण और हरिजन नेताओं के बीच समझौता हो।

वसे तो हम लोग समझौते की चर्चा में दिन-रात लगे रहते थे पर दरअसल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तो दो ही मनुष्यों को निर्णय करना था। एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर डाक्टर अम्बेडकर। पर इन सिद्धान्तों की नींव पर भी तो एक भीत चुननी थी। उसमें सर तेजबहादुर सप्रू की बुद्धि का प्रकाश हम लोगों को काफी सहायता दे रहा था। मैंने देखा कि गांधीजी यद्यपि धीरे-धीरे निर्बल होते जाते थे पर मानसिक सतर्कता में किसी तरह का कोई फर्क न पड़ा। बराबर दिन भर कभी उच्चवर्ण के नेताओं से तो कभी अम्बेडकर से उनका सलाह-मशवरा चलता ही रहता था।

राजाजी देवदास और मैं अपने ढंग से काम को प्रगति दे रहे थे। पर बागडोर तो सम्पूर्णतया गांधीजी के ही हाथ में थी। गांधीजी का धीरज उनकी असीम श्रद्धा उनकी निर्भयता उनकी अनासक्ति यह सब उस समय देखने ही लायक थी। मौत दरवाजे पर खड़ी थी। सरकार क्रूरतापूर्वक तटस्थ होकर खड़ी थी। अम्बेडकर का हृदय कटुता से भरा था। हिन्दू नेता सुबह से शाम और शाम से सुबह कर देते थे पर समझौता अभी कोसों दूर था। राजाजी देवदास और मुझ को कभी-कभी झुंझलाहट होती थी। पर गांधीजी सारी चिन्ता ईश्वर को समर्पण करके शांत पड़े थे।

एक रोज जब जेल के भीतर मशवरा चल रहा था तब

गांधीजी ने कुछ हिन्दू नेताओं से कहा "धनश्यामदास ने मेरी एक सूचना आपको बताई होगी। एक नेता ने झटपट कह दिया नहीं हमें तो कुछ मालूम नहीं। गांधीजी ने एक क्षणिक रोष के साथ कहा यह मेरे दुर्भाग्य की बात है। मुझे चोट लग गई। मैं जानता था और यह नेता भी जानते थे कि गांधीजी की सारी सूचना मैं उन्हें दे चुका था। पर जो लोग गांधीजी को एक अव्यावहारिक हवा में तैरनेवाला शख्स मानते है उन्हे गांधीजी की सूचना सुनने तक की फुरसत नही थी। उस सूचना को उन्होंने महज मजाक में उड़ा दिया था। मैंने सब बातें याद दिलाई और इसपर उन नेता ने अपनी भूल सुधारी। पर बुरा असर तो हो ही चुका था। इसी तरह किसी छोटी-सी बात पर उस रोज देवदास और राजाजी पर भी गांधीजी को थोड़ा रोष आ गया था। रात को नौ बजे सोने के समय गांधीजी को विषाद होने लगा। मन रोष करके अपने उपवास की महिमा गिरादी। रोष क्या था एक पलभर का आवेश था। पर गांधीजी के स्वभाव को इतना भी असह्य था। अपना दोष तिलभर भी हो तो उसे पहाड़ के समान मानना और पराया दोष पहाड़ के समान हो तो भी उसे तिल के समान देखना यह उनकी फिलासफी है। बिहार में जब भूकम्प हुआ तो उन्होंने उसे हमारे पापों का फल माना।

गांधीजी ने तुरन्त राजाजी को तलब किया और उनके सामने अत्यन्त कातर हो गये। आंखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई। रात को ग्यारह बजे जल्दबाजी की माफिक डेरे पर से टेलीफोन आया और मेरी बुलाहट हुई। मैं तो सो गया था पर बुलाने गया। गांधीजी ने उसमें क्षमा चाही। पिता पुत्र से क्षमा मांगे पर एक महापुरुष पिता यदि अपना व्यवहार मापदण्ड के मान के जितना निमर न रख सका तो फिर समाज को क्या शिक्षा मिल सकती है

राजाजी और देवदास दोनों से गांधीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और कहा कि इसी समय जाकर घनश्यामदास से भी मेरा खेद प्रकट करो। उन्होंने तो मुझे जताना भी उचित नहीं समझा क्योंकि इस चीज को हमने तिलभर भी महत्व नहीं दिया था। पर यह गांधीजी की महिमा है। 'आकाशवाणी' वाले उपवास पर भी, जो कुछ महीने बाद किया गया था इसी तरह राजाजी और सुन्दरम् पर उन्हें कुछ रोष आ गया था जिसके लिए उन्होंने राजाजी को एक माफी की चिट्ठी भेजी थी। राजाजी ने तो उस चिट्ठी को मजाक में उड़ा दिया क्योंकि जिस चीज को गांधीजी रोष मानते थे वह हम लोगों की दृष्टि में कोई रोष ही नहीं था।

पर यह तो दूसरे उपवास की बात बीच में आ गई। प्रस्तुत उपवास जिसका जिक्र चल रहा था वह तो चलता ही जाता था। सुबह होती थी और फिर शाम हो जाती थी। एक कदम भी मामला आगे नहीं बढ़ता था। देवदास तो एक रोज कातर होकर रोने लगा। गांधीजी की स्थिति नाजुक होती जाती थी। एक तरफ अम्बेडकर बड़ा जी कड़ा करके बात करता था दूसरी ओर हिन्दू नेता कई छोटी-मोटी बातों पर अड़ बैठे थे। प्राय: मोटी-मोटी सभी बातें तय हो चुकी थी पर जबतक एक भी मसला बाकी रह जाय तबतक अन्तिम समझौता आकाश कुसुम की तरह हो रहा था और अन्तिम समझौता हुए बिना उनकी प्राण-रक्षा असम्भव था।

हरिजनों को कितनी सीटें दी जायें यह अम्बेडकर के साथ तय कर लिया गया था। जिस प्रांत में जितने हरिजन हैं तदानुरूप उन्हें जितना और जिसमें उनका स्थान रखकर धारा का प्रस्तावना में था जो उस समय हम लोगों के सामने आया। चुनाव किस तरह हो इस पद्धति के सम्बन्ध में भी अम्बेडकर से समझौता हो गया। पर यह पद्धति कितने साल चले इसपर झगड़ा था। अम्बेडकर चाहता था कि

प्रायः एक समान था। बातें चलती रहीं। अन्त में गांधीजी के मुँह से अचानक निकल गया— अम्बेडकर या तो पाँच साल की अवधि उसके बाद हरिजनों के मतानुसार अन्तिम निर्णय नहीं तो मेरे प्राण। हम लोग स्तब्ध होगये। गांधीजी ने तीर फेंक दिया अब क्या हो?

लम्बी साँस लेकर हम लोग वापस डेरे पर आगये। अम्बेडकर को समझाया पर वह टस-से-मस न हुआ। उसके कट्टर हरिजन साथी डाक्टर सोलंकी ने भी उसकी जिद को नापसंद किया। मैंने राजाजी से कहा कि "राजाजी क्यों पाँच साल और क्यों दस साल? हम यही क्यों न निश्चय रक्खें कि भविष्य में चाहे जब हरिजनों की अनुमति से हम इस करार को बदल सकेंगे?" राजाजी ने कहा कि गांधीजी को शायद यह पसंद न आये। मैंने कहा—कुछ हम भी तो जिम्मेदारी लें। उन्हें पूछने का अब अवसर कहाँ है? राजाजी ने कहा—तीर चलाओ। मैंने यह प्रस्ताव अम्बेडकर के सामने रक्खा। लोगों ने इसका समर्थन किया और वह मान गया। एक समाप्ति तो हुई। पर गांधीजी की अनुमति तो बाकी थी। राजाजी जेल में गये और गांधीजी को यह किस्सा सुनाया। उन्होंने करार के इस प्रकरण की भाषा ध्यानपूर्वक सुनी। एक बार सुनी दो बार सुनी अन्त में धीरे से कहा— 'साधु!' सबके मुँह पर प्रसन्नता छा गई। मैं जब उनकी अनुमति मिल चुकी तभी उनके पास पहुँचा। और उनके चरण छुए। बदले में उन्होंने जोर की थपकी दी। उपवास छूटने में दो दिन और भी लगे क्योंकि इतना समय सरकार ने यरवदा-पैक्ट की स्वीकृति देने में लगाया। २ सितम्बर १९३२ को उपवास शुरू हुआ २४ को यरवदा पैक्ट बना २६ को सरकार की स्वीकृति मिली और उपवास टूटा।

पर सारी घटना में देखने लायक चीज यह थी कि मौन

की साक्षात् मूर्ति भी गांधीजी को एक तिल भी दायें-बायें नहीं किया सकी थी। सभी उपवासों में इनका यही हाल रहा। राजकोट के उपवास में भी एक तरफ मृत्यु की तैयारी थी वमन जारी था, बेचैनी बढ़ती जा रही थी और दूसरी तरफ वाइसराय से लिखा-पढ़ी करना और महादेवभाई और मुझको (दोनों-के-दोनों हम दिल्ली में थे) सन्देश भेजना जारी था। इसमें कोई शक नहीं कि हर उपवास में अन्तिम निर्णय—चाहे वह निर्णय हरिजन और उच्चवर्ग के नेताओं के बीच हुआ हो चाहे वाइसराय और गांधीजी के बीच—गांधीजी की मृत्यु के डर के बोझ के नीचे दबकर हुआ। किसी मर्तबा भी शांतिपूर्वक सोचने के लिए न समय था न अवसर मिला। फिर भी गांधीजी कहते हैं कि उतावलापन हिंसा है। तुलसीदासजी ने जब यह कहा कि 'समरथ को नहिं दोष गसाईं' तब उन्होंने यह कोई व्यंग्योक्ति नहीं की थी। असल बात भी यह है कि समर्थ मनुष्य के तमाम कामों में एकरंगापन देखना यह बिलकुल भूल है। एकरंगापन यह जरूर होता है कि हर समय हर काम के पीछे सेवा होती है शुद्ध भावना होती है। हर काम यथार्थ होता है पर तो भी हर काम की शक्ल परस्पर विरोधात्मक भी हो सकती है।

११

गांधीजी के उपवासों की काफी समालोचना हुई है, और लोगों ने काफी पुष्टि भी की है। पर साधारण वाद-विवाद से क्या निर्णय हो सकता है ? उपवास एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर पापमय और केवल धरना भी हो सकता है और दूसरे के द्वारा वही चीज धर्म और कर्तव्य भी हो सकती है।

बात सारी-की-सारी मंशा की है। उपवास यथार्थ है क्या? फलासक्ति त्यागकर किया जा रहा है क्या ? शुद्ध बुद्धि से किया जा रहा है क्या ? करनेवाला सात्त्विक पुरुष है क्या ? ईर्ष्या-द्वेष से रहित है क्या ? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर उपवास धर्म है या पाप है इसका निर्णय हो सकता है। पर सिर्फ उपयोगिता की दृष्टि से भी हम उपवास-नीति के शुभ-अशुभ पहलू सोच सकते हैं।

संसार को उल्टे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपनी उद्देश्यसिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। पर इन सब मार्गों के पीछे लक्ष्य तो एक ही था। नीति की स्थापना और अनीति का नाश—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

पर इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषों के साधनों की बाहरी शक्ल-सूरत में अवश्य ही भेद दिखाई देता है। प्रजा की मानसिक दशा उसकी मानी हुई उत्तम भावनाओं का आदर करना इस सब उद्देश्यों की प्राप्ति महापुरुष अपने खुद के आचरण द्वारा और उपदेश आदि द्वारा करते हैं। "मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" यह श्रीकृष्ण ने कहा।

गांधीजी कहते हैं जैसे शारीरिक व्यायाम द्वारा शारीरिक गठन प्राप्त हो सकता है और बौद्धिक व्यायाम द्वारा बौद्धिक विकास वैसे ही आत्मोन्नति के लिए आध्यात्मिक व्यायाम जरूरी है और आध्यात्मिक व्यायाम का आधार बहुत अंश में गुरु के जीवन और चरित्र पर निर्भर करता है। गुरु यदि शिष्यों से मीलों दूर भी हो तो भी अपने चरित्र-बल से वह शिष्यों के चरित्रों को प्रभावान्वित कर सकता है। यदि मैं स्वयं झूठ बोलता हूं तो अपने लड़कों को सत्य की महिमा कैसे सिखा सकता हूं? एक कायर शिक्षक अपने विद्यार्थियों को बहादुर नहीं बना सकता न एक भोगी अध्यापक बालकों को आत्मनिग्रह सिखा सकता है। इसलिए मैंने यह देख लिया कि मुझे कुछ नहीं तो अपने बालकों के लिए ही सही सत्य वान शुद्ध और शुभकर्मी बनना चाहिए। इसलिए सभी महापुरुषों ने अपने चरित्र और उपदेशों द्वारा ही धर्म का प्रचार किया है। धर्म की वृद्धि से अधर्म का स्वतः ही नाश होता है। पर कभी-कभी अधर्म पर सीधा प्रहार भी महापुरुषों ने किया है। और अनीति का नाश करने के साधनों का जब हम अवलोकन करते हैं तो मालूम होता है कि महापुरुषों के इन साधनों के बाहरी स्वरूप में काफी भेद रहा है।

श्रीकृष्ण ने भूमि का भार हल्का किया अर्थात् संसार से पापों का बोझ कम किया तब जिन साधनों का उपयोग किया उनके बाहरी रूप में और बुद्ध के साधनों के बाहरी रूप में अवश्य भेद मिलता है। महाभारत का युद्ध कंस का नाश शिशुपाल और जरासंध इत्यादि दुष्ट राजाओं का उनके हाथों वध होना आदि घटनाएं हम ऐतिहासिक मानते तो यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण का भूमि-भार हरने का तरीका और बुद्ध का तरीका बाहरी स्वरूप में भिन्न भिन्न थे। पर हम यह कह सकते हैं कि मूल तो दोनों तरीकों का एक था जिनका वध किया उनसे श्रीकृष्ण को न द्वेष

था न ईर्ष्या थी न उन्हें उनके प्रति क्षोभ था।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

यह लक्ष्य था और जिस तरह एक भिषक् जर्राह रोगी के सड़े अंग को रोगी की भलाई के लिए ही काटकर फेंक देता है उसी तरह श्रीकृष्ण ने और श्रीरामचन्द्र ने समाज की रक्षा के लिए, और जिनका वध किया गया उनकी भी भलाई क लिए दुष्टों का दमन किया। जिनका वध किया गया—जैसे रावण कंस जरासंध इत्यादि उन्हें भी श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण ने सुगति ही दी ऐसा हमारे पुराण बताते हैं।

महापुरुषों ने दुष्टों का वध किया इसलिए हमें भी ऐसा ही करना चाहिए ऐसी दलील तो हिंसा के पक्षपाती झटपट दे डालते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि ये वध बिना क्रोध द्वेष फलासक्ति से रहित होकर समाज की रक्षा के लिए किय गये थे और जो मारे गये उन्हें भगवान द्वारा सुगति मिली। इसलिए मूल में तो राम क्या कृष्ण क्या और बुद्ध क्या सभी समानतया अहिंसावादी थे। राम और कृष्ण क साधनों का बाहरी रूप हिंसात्मक दिखाई देते हुए भी उसे हिंसा नहीं कह सकते क्योंकि "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा' और फिर

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

इन वचनों का यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो सहज ही समझ में आ जायगा कि श्रीकृष्ण हिंसा से उतने ही दूर थे जितने कि बुद्ध।

गांधीजी ने भी बछड़े की हत्या करके उसे अहिंसा बताया क्योंकि मार दना मात्र ही हिंसा नहीं है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए हमें यह भी जानना जरूरी है कि मारनेवाले ने किस मानसिक स्थिति में किस भावना से वध किया है। वध करनेवाले की मानसिक स्थिति और भावना ही हमें इस निर्णय पर पहुंचा सकती है कि अमुक कर्म हिंसा है या अहिंसा। पर राग-द्वेष से रहित होकर अक्रोधपूर्वक शुद्धभाव से लोककल्याण के लिए किसी का वध करनेवाला क्या कोई साधारण पुरुष हो सकता है? वह तो कोई असाधारण दैवी पुरुष ही हो सकता है। इसके माने यह भी हुए कि उत्तम उद्देश्य के लिए भी हिंसात्मक शस्त्र-ग्रहण साधारण मनुष्य का धर्म नहीं बन सकता। राग, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या से जकड़े हुए हम न तो हिंसा-शस्त्र धर्मपूर्वक चला सकते हैं, न राग-द्वेष के कारण जिसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई है वह यही निर्णय कर सकते हैं कि वध के योग्य दुष्ट कौन है। राग-द्वेष से रहित हुए बिना हम यह भी तो सही निर्णय नहीं कर सकते कि दुष्ट हम हैं या हमारा विरोधी। यदि हम दुष्ट हैं और हमारा विरोधी सज्जन है, तो फिर लोक-कल्याण का बहाना लेकर हम यदि हिंसा-शस्त्र का उपयोग करते हैं तो पाप भी करते हैं और आत्म-वंचना भी करते हैं। असल में तो अनासक्ति-पूर्वक हिंसा-शस्त्र का उपयोग केवल उन उत्तम महापुरुषों के लिए ही सुरक्षित समझना चाहिए जिनमें कमल की तरह जल में रहते हुए भी अलिप्त रहने की शक्ति है। इसलिए साधारण आदमियों का निर्दोष धर्म तो केवल [illegible]

सकती है। पर आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा भी शुद्ध धर्म नहीं अपेक्षाकृत धर्म ही है। शुद्ध धर्म तो अहिंसा ही है।

स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि डकैती के लिए एक डाकू हिंसा करता है तो वह निकृष्ट पाप करता है। आत्म-रक्षा के लिए, देश या धर्म की रक्षा के लिए की गई हिंसा यदि न्याय हमारे साथ है तो उस डकैत द्वारा की गई हिंसा की तुलना में धर्म है। पर अच्छे हेतु के लिए अनासक्त होकर की गई हिंसा अहिंसा ही है और इसलिए शुद्ध धर्म है। उसी तरह कायरता वश की गई अहिंसा अहिंसा नहीं पाप है। अशोक वीर था। उसने दिग्विजय के बाद सोचा कि साम्राज्य स्थापन के लिए की गई हिंसा पाप है। इसलिए उसने क्षमा-धर्म का अनुसरण किया। वह वीर की क्षमा थी पर उसीका पौत्र अपनी कायरता ढांकने के लिए अशोक की नकल करने लगा। उसमें न क्षमा थी न शौर्य था। उसमें थी कायरता। इसलिए कवियों ने उसे मोहात्मा के नाम पुकारा। बलिष्ठ की अहिंसा ही जो विवेक के साथ है शुद्ध अहिंसा है। वह एक सत्त्वगुणमयी वृत्ति है। कायर की अहिंसा और डाकू की हिंसा दोनों पाप हैं। अनासक्त की हिंसा और बलिष्ठ द्वारा विवेक से की गई अहिंसा दोनों धर्म और अहिंसा हैं।

पर धर्म की गति तो सूक्ष्म है। मनुष्य क्रोध के वश या लोभ के वश हिंसावृत्ति पर आसानी से संयम नहीं कर पाता। इसलिए गांधीजी ने हिंसा को त्याज्य और अहिंसा को ग्राह्य माना। गांधीजी स्वयं जीवन्मुक्त दशा में चाहे वह दशा क्षणिक—जब निर्णय किया जा रहा हो उस घड़ी के लिए ही—क्यों न हो अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें जैसे कि बछड़े की हिंसा पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कम कौए के लिए हंस की नकल होगी। इसलिए सबके लिए सरल सुगम और स्वर्णमय मार्ग अहिंसा ही है ऐसा गांधीजी

न मानकर अहिंसा-धर्म की वृद्धि की है। उपवास की प्रवृत्ति भी इसीमें से बनी।

हिंसा को पूर्णतया त्याज्य मानने के बाद भी ऐसे शस्त्र की जरूरत तो रह ही जाती है जिससे अधर्म का नाश हो। धर्म को अत्यन्त प्रगति मिलने पर भी अधर्म का नाश हुआ है पर अधर्म का नाश होने पर भी तो धर्म की प्रगति का आधार रहता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक मनुष्य हम से वादाखिलाफी करता है जैसा कि राजकोट में हुआ था, या तो हमपर कोई जबरन एक ऐसी भयंकर चीज लादता है कि जो जबरदस्त प्रतिवाद के बिना नहीं रोकी जा सकती—जैसा कि हरिजन साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में हुआ। तब अहिंसा-शस्त्रधारी ऐसी परिस्थिति में क्या करें? हिंसा को तो उसने त्याज्य माना है। इसलिए उसे तो ऐसे ही शस्त्र का प्रयोग करना है जो जनता की आत्मा को अधर्म के खिलाफ उत्तेजन दे पर जनता का क्रोध न बढ़ाये जनता में द्वेष पैदा न होने दे जो बुराई को छेदन करने के लिए दो लोगों का उकसाये पर साथ ही बुराई करनेवालों को भय से मुक्त कर दे। हमारा एक निकटस्थ बुरी लत में फंसा है उसको हम कैसे बुरे मार्ग से हटायें? उसे व्याकुल तो करना है पर हिंसा के शस्त्र से नहीं प्रेम के द्वारा। ऐसी तमाम परिस्थितियों के लिए कई अहिंसात्मक उपायों का विधान हो सकता है। इन विधानों में उपवास एक रामबाण शस्त्र है जिसका गांधीजी ने बार बार प्रयोग किया।

को उसका अच्छा फल मिल ही जाता है। असल बात तो यह है कि हिंसक नेता हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर अपने हिंसक शस्त्रों द्वारा हमें डराकर हमसे पाप कराता है। अहिंसक नेता हमारी धर्म भीरुता को उकसाकर हमें अपने प्रेम से प्रभावान्वित करके हमसे पुण्य कराता है। इसका यह भी फल होता है कि पाप के नीचे हमारी दबी हुई अच्छी प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्र बनती हैं। इस तरह पहले जो काम प्रेम के बलात्कार से किया वही हम अब अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से करने लगते हैं। परवशता को खोकर इस तरह हम स्वतंत्रता प्राप्त कर लेते हैं। आदर्श स्थिति तो अवश्य ही यह होगी कि अहिंसात्मक नेता को कोई बल-प्रयोग करना ही न पड़े पर ऐसी स्थिति तो सत्ययुग की ही हो सकती है। महापुरुष के जन्म की पहली शर्त ही यह है कि समाज निर्बल है अधर्म का जोर है कुकर्मों के मारे समाज त्रस्त ह उसे धर्म की प्यास है जिसे मिटाने के लिए महापुरुष जन्म लेता है। यदि धर्म हो निर्बलता न हो तो क्यों तो महापुरुष के आने की जरूरत हो और क्यों उपवास की आवश्यकता हो? क्यों उपदेश और क्यों सुशिक्षण की ही आवश्यकता हो?

पर इसके माने यह भी नहीं कि हर मनुष्य इस उपवास रूपी अहिंसा-शस्त्र का उपयोग करने का पात्र ह। अहिंसात्मक हिंसा जिसका प्रयोग राम कृष्ण इत्यादि न और गांधीजी ने बड़े पर किया उसके लिए तो असाधारण पात्रता की जरूरत होती ह पर हिंसात्मक शस्त्र के लिए भी तालीम की जरूरत पड़ती है। तलवार, गदका पटा चलानेवालों की कला सीखने की फौजी सिपाहियों को जरूरत होती है और उस तालीम के बाद ही वे अपने शस्त्रों का निपुणता स प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह उपवास के लिए भी यदि अहिंसामय उपवास करना है तो पात्रता की आवश्यकता ह। सभी लोग अहिंसात्मक उपवास नहीं कर सकते। 'धरना' देना एक बोझ

है धार्मिक उपवास दूसरी चीज। पर 'धरना' में धर्म कहाँ और अहिंसा कहाँ? 'धरना' ज्यादातर तो निजी स्वार्थ के लिए होता है। पर कुछ उपवास पाखण्ड और विज्ञापनबाजी के लिए भी लोग करते हैं। ऐसे उपवासों से कोई विशेष बलात्कार न भी हो तो भी उनको हम अधार्मिक उपवासों की श्रेणी में ही गिन सकते हैं। इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। हम तो धार्मिक उपवास की ही चर्चा कर रहे हैं। यह समझना जरूरी है कि धार्मिक उपवास का जो प्रयोग करना चाहता है उसे पहले पात्रता सम्पादन करनी चाहिए। यह इस लिए कि हर धार्मिक उपवास में बलात्कार की सम्भावना रहती है। अधार्मिक उपवास में बलात्कार हो भी तो लोग उसकी अवहेलना कर जाते हैं और अवहेलना करना भी चाहिए क्योंकि उसमें उस प्रयोग के पीछे कोई नीति या धर्म नहीं होता। इसलिए ऐसे उपवास करनेवालों के सामने झुकना भी अधर्म है। पर धार्मिक उपवास में चूंकि सफल बल-प्रयोग की सम्भावना है, इसलिए उसे करनेवाले को ज्यादा सावधानी और [illegible] आवश्यकता होती है।

है कि अधिकतर उपवास जो लोग करते हैं वे सत्याग्रह की श्रेणी में आ ही नहीं सकते। वे तो महज 'धरना' या 'भूख हड़ताल' के नाम से ही पुकारे जाने चाहिए।

अन्तरात्मा आवाज सुनने की तथा उपवासों की नकल कई लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए की है। कुछ लोग पाखण्ड भी करते हैं। पर कौन-सी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नहीं हुआ? किसी चीज का दुरुपयोग होता है केवल इसी लिए वह चीज बुरी नहीं बन जाती। असल बात तो यह है कि हर चीज में विवेक की जरूरत है। इसलिए गांधीजी ने यद्यपि आकाशवाणी भी सुनी और कई उपवास भी किये तो भी प्रायः अपने लेखों में इन दोनों चीजों के संबंध में बड़ी सावधानी से काम लेने की लोगों को सलाह देते हैं। मैंने देखा है कि वह प्रायः 'अन्तर्नाद' की बात करने वाले को शक की निगाह से देखते हैं और उपवास करने वालों को प्रायः बिना अपवाद के अनुत्साहित करते हैं। और यह सही भी है।

१२

गांधीजी का ध्यान करते ही हमारे सामने सत्याग्रह का चित्र उपस्थित होता है। जैसे दूध के बिना हम गाय की कल्पना नहीं कर सकते वैसे ही सत्याग्रह के बिना गांधीजी की कल्पना नहीं होती। गांधीजी तो सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक करते हैं। वह इसकी व्याख्या सविनय कानून भंग तक ही सीमित नहीं करते। सविनय कानून-भंग सत्याग्रह का एक अंगमात्र है पर हरिजन-कार्य भी उनकी दृष्टि से उतना ही सत्याग्रह है जितना कि सविनय कानून भंग। चरखा चलाना भी सत्याग्रह है। सत्य ब्रह्मचर्य ये सारे सत्याग्रह के अंग हैं।

सत्याग्रह अर्थात् सत्य का आग्रह। इसी चित्र को सामने रखकर सत्याग्रह आश्रम के वासियों को सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य अस्वाद अपरिग्रह अभयत्व अस्पृश्यता निवारण कायिक परिश्रम सर्व धर्म-समभाव नम्रता स्वदेशी इन एकादश व्रतों का पालन करना पड़ता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये एकादश व्रत ही सत्याग्रह के अंग हैं। सविनय कानून

कानून भंग में शुद्ध सत्याग्रह का आचरण नहीं करते वे कानून भंग को सत्याग्रह का नाम न देकर यदि महज 'निःशस्त्र प्रतिकार' कहें तो सत्याग्रह की ज्यादा सेवा हो।

गांधीजी में यह शुद्ध सत्याग्रह बचपन से ही रहा है पर सविनय आज्ञा भंग का स्पष्ट दर्शन सर्वप्रथम अफ्रीका में होता है। अफ्रीका पहुंचते ही इन्हें प्रिटोरिया जाना था इसलिए डरबन से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुए।। फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर गाड़ी में आराम से जाकर बैठ गए। रात को नौ बजे एक दूसरा गोरा मुसाफिर उसी डिब्बे में आया। गांधीजी को उसने एड़ी से चोटी तक देखा और फिर बाहर जाकर एक रेल्वे अफसर को लेकर वापस लौटा। अफसर ने आते ही कहा

'उठो तुम यहां नहीं बैठ सकते तुम्हें दूसरे नीचे दर्जे के डिब्बे में जाना होगा।"

"पर मेरे पास तो फर्स्ट का टिकट है।"

'रहने दो बहस को उठो चलो दूसरे डिब्बे में।

'मैं साफ कह देता हूं कि मैं इस डिब्बे से ऐसे नहीं निकलनेवाला हूं। मेरे पास टिकट है और अपनी यात्रा इसी डिब्बे में समाप्त करना चाहता हूं।

'तुम सीधी तरह नहीं मानोगे। मैं पुलिस को बुलाता हूं।"

पुलिस कॉन्स्टेबल आया। उसने गांधीजी को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया और इनका सामान भी बाहर पटक दिया। इन्होंने दूसरे डिब्बे में जाना स्वीकार नहीं किया और गाड़ी इन्हें बिना लिए ही छूट गई। यह मुसाफिरखाने में चुपचाप जा बैठे। सामान भी रेल्वेवालों के पास रहा। रात को भयंकर जाड़ा पड़ता था उसके मारे यह ठिठुर जाते थे। 'मैं अपने कर्तव्य का विचार करने लगा। क्या मुझे अपने हक हकूकों के

लिए लड़ना चाहिए ? या अपमान को सहन करके भी प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुकदमा समाप्त होने पर ही वहां से लौटना चाहिए ? अपना कर्तव्य पूरा किए बिना वापस लौटना मेरी नामर्दी होगी। यह काले-गोरे के भेदभाव का रोग तो गहरा था। मेरा अपमान तो रोग का एक लक्षणमात्र था। मुझे तो रोग को जड़-मूल से खोदकर नष्ट करना चाहिए और उस प्रयत्न में जो भी कष्ट आवे उसे सहन करना चाहिए। यह निश्चय करके मैं दूसरी गाड़ी से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुआ।

डरबन से प्रिटोरिया पहुंचने के लिए रेल से चार्ल्सटाउन पहुंचना था। वहां से घोड़ा-गाड़ी की डाक थी उसमें सफर करना और जोहान्सबर्ग पहुंचकर वहां से फिर रेल पकड़कर प्रिटोरिया पहुंचना था। गांधीजी दूसरी गाड़ी पकड़कर चार्ल्स टाउन पहुंचे। पर अब यहां से फिर घोड़ा-गाड़ी की डाक में यात्रा करनी थी। रेल के टिकट के साथ ही उन्होंने घोड़ागाड़ी का टिकट भी खरीद लिया था। घोड़ा-गाड़ी के एजेण्ट ने जब देखा कि यह तो सांवला आदमी है तो इनसे कहा कि तुम्हारा टिकट तो रद्द हो चुका है। गांधीजी ने उसे उपयुक्त उत्तर दिया तो वह चुप हो गया। पर मूल में जो कठिनाई काले-गोरे की थी वह कैसे दूर हो सकती थी ? गोरे यात्री तो सब गाड़ी के भीतर बैठे थे। इन्हें गोरों के साथ तो बिठाया नहीं जा सकता था, इसलिए घोड़ों का संचालक जो कोचमैन की बगल में बैठा करता था वह तो स्वयं भीतर बैठ गया और इन्हें

चित्रकार
भूरसिंह विलासी

को भी उसने गांधीजी का और अपमान करके ही हल करना निश्चय किया। कोचमैन की दूसरी तरफ एक गन्दी-सी जगह बची थी उसकी तरफ लक्ष्य करके गांधीजी से कहा "अब तू यहां बैठ मुझे तम्बाकू पीना है। यह अपमान असह्य था। गांधीजी ने कहा "मेरा हक तो भीतर बैठने का था। तुम्हारे कहने से मैं यहां बैठा। अब तुम्हें तम्बाकू पीना है इसलिए मेरी जगह भी तुम्हें चाहिए! मैं भीतर तो बैठ सकता हूं पर और दूसरी जगह के लिए मैं अपना स्थान खाली नहीं कर सकता।" बस इतना कहना था कि तपाक से उसने गांधीजी को तमाचा मारा। इनका हाथ पकड़कर इन्हें नीचे गिराने की कोशिश करने लगा। पर यह भी गाड़ी के डण्डे से चिपटकर अपने स्थान पर जमे रहे।

दूसरे यात्री यह तमाशा चुपचाप देखते थे। गाड़ी का संचालक इन्हें पीट रहा था गालियां दे रहा था खींच रहा था और यह गाड़ी से चिपके हुए थे पर शांत थे। वह बलिष्ठ था यह दुर्बल थे। यात्रियों को दया आई। एक ने कहा "भाई जाने भी दो क्यों गरीब को मारते हो?" उसका क्रोध शांत तो नहीं हुआ पर कुछ शर्मा गया। इन्हें जहां का-तहां बैठने दिया। गाड़ी अपने मुकाम पर पहुंची। वहां से फिर रेल पकड़ी पर फिर वही मुसीबत। गार्ड ने पहले इनसे टिकट मांगा फिर बोला "उठो थर्ड में जाओ।" फिर झंझट शुरू हुई पर एक अंगरेज यात्री ने बीच में पड़कर मामला शांत किया और यह सही-सलामत प्रिटोरिया पहुंचे।

सविनय आज्ञा-भंग का गांधीजी के लिए यह पहला पाठ था। उनकी इस वृत्ति का प्रथम दर्शन शायद यहीं से होता है। ऐसे मौके पर ऐसा करना चाहिए यह शायद उन्होंने निश्चय नहीं कर रखा था। पर ऐसे मौके पर अचानक विवेक-बुद्धि आज्ञा-भंग करने के लिए उभारती है और वह सविनय आज्ञा-भंग करते हैं। मार खाते हैं पर मारने

काम पर कोई क्रोध नहीं है। न इन्हें उसपर मुकदमा चलाने की रुचि होती है। इस तरह पहले पाठ का प्रयोग सफलता पूर्वक समाप्त होता है।

यह जो छोटी-सी चीज आरम्भ हुई, वह फिर बृहत् आकार धारण कर लेती है। पर यह कोरा आज्ञा-भंग नहीं है। सविनय ... की सत्याग्रह की एक प्रधान शर्त है। सत्याग्रह उनके लिए कोई राजनैतिक शस्त्र नहीं है। आदि से अन्त तक उनके लिए यह धार्मिक शस्त्र है जिसका उपयोग वह राजनीति में घर में हर समय हर हालत में करते हैं।

बा को एक मर्तबा बीमारी होती है। चिकित्सा से लाभ नहीं हुआ तो गांधीजी ने अपनी जल-चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग शुरू किया। इन्हें लगा कि बा को नमक और दाल का त्याग करना चाहिए पर बा को यह राय पसन्द न आई। एक रोज बहस करते-करते बा ने कहा यदि आपको भी दाल और नमक छोड़ने को कहा जाय तो न छोड़ सकेंगे। 'तुम्हारी यह भूल है। यदि मैं बीमार पड़ूं और मुझे डाक्टर इन चीजों को छोड़ने के लिए कहें तो मैं अवश्य छोड़ दूं। पर लो मैं तो एक साल के लिए दाल और नमक दोनों छोड़ देता हूं तुम छोड़ो या न छोड़ो। बा बेचारी घबरा गईं फिक्र की आफत मोल ली। 'मैं दाल और नमक छोड़ती हूं पर आप न छोड़ें। पर गांधीजी ने तो बातों ही-बातों में प्रतिज्ञा ले ली थी। अब उससे टलनेवाले थोड़े ही थे। बा ने भी सन्तोष किया। इस घटना का जिक्र करते हुए गांधीजी कहते हैं "मैं मानता हूं कि मेरा यह सत्याग्रह मेरे जीवन की स्मृतियों में सबसे ज्यादा मधुर है।"

ये दो घटनाएं गांधीजी की शुद्ध सत्याग्रह की नीति को स्पष्टतया हमारे सामने रखती हैं। यद्यपि एक घटना एक अम... जान के साथ घटती है जो इनके प्रति क्रुद्ध था और दूसरी घटना एक निकटस्थ के साथ जो हठ के कारण अपना प्रिय

भोजन को स्वास्थ्य की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व देती थी पर दोनों में भावना एक ही काम करती है। दोनों में हृदय-परिवर्तन की इच्छा है। दोनों में स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन करने की नीति है। दोनों में क्रोध या आवेश का अभाव है। इन घटनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद हम देख सकेंगे कि इनके बाद के बड़े-से-बड़े राजनैतिक संग्रामों में वही भावना वही प्रवृत्ति रही है जो इन दो घटनाओं में हमें मिलती है— अक्रोध से क्रोध को जीतना दूसरों की उत्तम भावना को स्वयं कष्ट सहकर जाग्रत करना। सत्याग्रह के शस्त्र का इन्होंने जीवन की हर क्रिया में उपयोग किया है। पर इस शस्त्र को अधिक ख्याति राजनीति में मिली है इसलिए राजनीति में कुछ कार्यों का सिंहावलोकन सत्याग्रह की नीति को ठीक-ठीक समझने में हमारे लिए ज्यादा सहायक हो सकता है।

गांधीजी ने सरकार के साथ कई लड़ाइयाँ लड़ीं और कई मर्तबा सरकार के समक्ष में आये। इन सभी लड़ाइयों में या समरों में सत्याग्रह की झलक मिलती है, पर मेरा ख्याल है कि १९१४ १८ का यूरोपीय महाभारत और उसी जमाने में किया गया चम्पारन-सत्याग्रह और वर्तमान यूरोपीय महाभारत ये तीन प्रकरण इनके स्वदेश लौटने के बाद ऐसे हुए हैं कि जिनमें हमें शुद्ध सत्याग्रह का निदर्शन होता है। अफ्रीका का सत्याग्रह-संग्राम तो इनके सगठ आधिपत्य में हुआ था। इसलिए उस सत्याग्रह में शुद्ध सत्याग्रह की नीति का ही अनुसरण हुआ। पर १ २० २ और १९३०-३२ की लड़ाइयाँ बिल्कुल थीं और यद्यपि नायक इनकी होते हुए भी सबका तट वह सत्याग्रह पंथ गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि सत्याग्रह मर्यादा में सत्याग्रह न रहा। इन लड़ाइयों में सत्याग्रह के साथ-साथ दुराग्रह भी पनपा।

यह सही है कि लोग शरीर से कोई हिंसा नहीं करते थे पर जबान और दिल में जहर की कमी न थी।

इटली और तुर्की के बीच कई साल पहले जब युद्ध छिड़ा तब अकबर साहब ने लिखा था

> न तीर में जोर है न बाजू में बल
> कि इटली के दुश्मन से जाकर लड़ें
> तहेदिल से हम कोसते हैं मगर
> कि इटली की तोपों में कीड़े पड़ें।

ऐसे सैकड़ों सत्याग्रही थे जिनके बारे में थोड़े से हेरफेर के साथ यह शेर कहा जा सकता था। इंगलैंड के फेफड़ों में कीड़े पड़ें ऐसी मिन्नत मनानेवालों की भी क्या कमी थी! पर पिछले यूरोपीय महाभारत और वर्तमान यूरोपीय युद्ध में इनकी जो नीति रही उसमें शुद्ध गांधीवाद का प्रदर्शन हुआ है।

पिछला यूरोपीय युद्ध और वर्तमान यूरोपीय युद्ध ये ऐसी बड़ी घटनाएँ हैं जिन्होंने संसार के हर पहलू को प्रभावान्वित किया है और भविष्य में करेंगी। असल में तो वर्तमान युद्ध के जन्म के पीछे छिपा हुआ कारण तो पिछला युद्ध ही है और ये दोनों युद्ध संसार की महत् बीमारी के चिह्नमात्र हैं। बीमारी तो कुछ दूसरी ही है। मालूम होता है कि जैसे पृथ्वी के गर्भ में तूफ़ान उठता है उसे हम देख नहीं पाते और भूकम्प होने पर ही हमें उसकी खबर होती है वैसे ही मानव-समाज में भी जो आग भीतर-ही-भीतर वर्षों से दहक रही थी उसे हमने युद्ध होने पर ही सम्यक् प्रकार से देखा है। पिछला युद्ध एक तरह का भूकम्प था। प्रेसीडेंट विल्सन ने उस भूकम्प का निदान किया। बर्तानिया के प्रधानमन्त्री शायद आज की भी स्थिति स्पष्ट दिखाई दी। पर दोनों की मानसिक निर्बलता ने इन्हें लाचार बना दिया। विजय के मद में ये लोग रोग को भूल गये। रोग की चिकित्सा में केवल लक्षणों को दबाने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि एक जबरदस्त विस्फोटक मानव-समाज के अंग में फूट निकला है जिसके दर्द के मारे सारा मनुष्य व्याकुलता में कराह रहा है।

इन दोनों महानाटकों में गांधीजी ने क्या किया यह एक अध्ययन करने लायक चीज है। गांधीजी की राजनीति में धर्मनीति प्रधान होती है। यूरोपीय महाभारतों में इससे दूसरा राजनीति का प्रकरण इस अर्से में और कोई नहीं हुआ। इन दोनों राजनीतिक प्रकरणों में गांधीजी ने राजनीति और धर्म का कैसे समन्वय किया यह एक समालोच्य विषय है

सकता है। पर हर हालत में वह गांधीजी के व्यक्तित्व पर एक तेज प्रकाश डालता है। गांधीजी की प्रथम यूरोपीय युद्ध के बाद की नीति में इतना फर्क अवश्य पड़ा है कि इंग्लैंड के राज्यशासन में जो इनका अटूट विश्वास था वह मिट गया। पर उसके मिटने से पहले इन्हें कई आघात लगे जिन्होंने उस विश्वास की सारी बुनियाद को तहस-नहस कर दिया।

ब्रिटिश राज्य-शासन में मेरी जितनी श्रद्धा थी उससे बढ़कर किसीकी हो ही नहीं सकती थी। मैं अब सोचता हूं तो मुझे लगता है कि इस राजभक्ति की जड़ में तो मेरी सत्य-प्रियता ही थी। मैं ब्रिटिश शासन के दुर्गुणों से अनभिज्ञ न था पर मुझे उस समय ऐसा लगता था कि गुण-अवगुणों के जमा-खर्च के बाद ब्रिटिश शासन का जमा-पक्ष ही प्रबल रहता था। अफ्रीका में मैंने जो रंग भेद पाया वह मुझे ब्रिटिश स्वभाव के लिए अस्वाभाविक चीज लगती थी। मैंने माना था कि वह स्थानीय थी और अस्थायी थी इसलिए राज कुटुम्ब के प्रति आदर प्रदर्शन करने में मैं हर अंग्रेज से बाजी मारता था। पर मैंने इस राजभक्ति से कभी स्वार्थ नहीं साधा। मैंने तो ऐसा माना कि राजभक्ति द्वारा मैं एक ऋण मात्र अदा कर रहा हूं।

ये इनके प्राचीन भाव थे। फिर जब इन्होंने सरकार के लिए शैतानी शब्द की रचना की तबतक विचारों में परिवर्तन

थी उसकी प्राप्ति अब 'हृदय परिवर्तन' द्वारा होने की चाह जगी। पर स्वयं कष्ट-सहन करने की नीति और अन्य तत्सम चीजें ज्यों-की-त्यों हैं।

४ अगस्त १९१४ को लड़ाई का ऐलान हुआ। ६ अगस्त को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैंड में पदार्पण किया। लन्दन पहुंचते ही पहला ध्यान इनका अपने कर्त्तव्य की ओर गया। कुछ भारतीय मित्र उस समय इंग्लैंड में थे। उनकी एक छोटी-सी सभा बुलाई और उनके सामने कर्त्तव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये। इन्हें लगा कि जो हिंदुस्तानी भाई इंग्लैंड में रहते थे उन्हें सहायता देकर अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी फौज में भरती हो रहे हैं। भारतीय विद्यार्थियों को भी ऐसा करना चाहिए, यह इनकी राय थी। पर दोनों की स्थितियों में क्या तुलना है? अंग्रेज मालिक हैं, हम गुलाम हैं। गुलाम क्यों सहयोग दें? जो गुलाम स्वतंत्र होना चाहता है उसके लिए तो स्वामी का संकट ही अवसर है। पर यह दलील उस समय गांधीजी को नहीं हिला सकी। आज भी ऐसी दलील का उनपर कोई असर नहीं होता।

"मुझे अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों की हैसियत के भेद का संपूर्ण ज्ञान था, पर मैंने यह नहीं माना था कि हम गुलामों की हैसियत में पहुंच गये थे। मुझे लगता था कि यह सारा दोष ब्रिटिश शासन का नहीं, पर व्यक्तिगत अफसरों का था और मेरा विश्वास था कि यह परिवर्तन प्रेम से ही संपादन किया जा सकता था। यदि हमें अपनी अवस्था का सुधार वांछनीय था तो हमारा फर्ज था कि हम अंग्रेजों की उनके संकट में मदद करें और उनका हृदय पलटायें।"

पर विरोधी मित्रों की ब्रिटिश सल्तनत में वह श्रद्धा नहीं थी जो गांधीजी की थी इसलिए वे सहयोग देने को उन्मुख नहीं थे। आज वह श्रद्धा गांधीजी की भी नहीं रही

इसलिए गांधीजी के सहयोग का अभाव है। पर 'अंग्रेजों का संकट हमारा अवसर है' इस दलील को आज भी गांधीजी स्वीकार नहीं करते। मित्रों ने उस समय कहा 'इस समय हम अपनी मांग पेश करनी चाहिए।' पर गांधीजी ने कहा 'यह ज्यादा सुंदर होगा और दूरदर्शिता भी होगी कि हम अपनी मांग लड़ाई के बाद पेश करें।" अबकी बार मांगें पेश की गई हैं पर तो भी अंग्रेजों के संकट की चिंता से गांधीजी मुक्त नहीं हैं। वह उनके लिए किसी तरह की परेशानी पैदा करना नहीं चाहते। प्रथम और द्वितीय यूरोपीय युद्धों के प्रति इनकी मनोवृत्ति में जो सूक्ष्म सादृश्य बराबर नजर आता है वह अध्ययन करने लायक है।

[illegible] में लन्दन में वालण्टियरों की एक टुकड़ी खड़ी की गई। उस समय के भारत-मंत्री लार्ड क्रू थे। उन्होंने बड़ी अगर मगर के बाद उस टुकड़ी की सेवा स्वीकार करने की सम्मति दी। अंग्रेजों में तब भी हमारे प्रति अविश्वास था जो आज तक ज्यों का त्यों बना हुआ है।

गांधीजी के साथियों ने जब दक्षिण अफ्रीका में सुना कि गांधीजी ने [illegible] को एक [illegible] लड़ाई में सहायता देने का [illegible] तब उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। एक ओर अहिंसा [illegible] और दूसरी ओर लड़ाई में शरीक [illegible] गांधीजी की इन [illegible]-विरुद्ध मनोवृत्तियों ने [illegible] लिया।

[illegible] विश्वास न था। 'यदि [illegible] करते हैं तो [illegible] नहीं कि धर्म [illegible] सकता है?'

[illegible]

[illegible] अहिंसा का

कभी मेल नहीं हो सकता। पर धर्म क्या है और अधर्म क्या है इसका निर्णय इतना सरल नहीं होता। सत्य के उपासक को कभी-कभी अंधकार में भी भटकना पड़ता है। अहिंसा एक विशाल धर्म है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस वाक्य का अत्यन्त गूढ़ अर्थ है। मनुष्य एक क्षण भी जाने अनजाने हिंसा किए बिना जीवित नहीं रहता। जिन्दा रहने की क्रियामात्र—खाना पीना डोलना—जीव का हनन करती है चाहे वह जीव अब जितना ही छोटा क्यों न हो। इसलिए जीवन स्वयं ही हिंसा है। अहिंसा का पुजारी ऐसी हालत में अपने धर्म का यथार्थ पालन उसी दशा में कर सकता है जबकि उसके तमाम कर्मों का एक ही स्रोत हो। वह स्रोत है दया। अहिंसावादी भरसक जीवों की रक्षा करने की कोशिश करता है और इस तरह वह हिंसा के पापमय फंद से बचता रहता है। उसका कर्तव्य होता है कि वह इन्द्रिय-निग्रह और दया-धर्म की वृद्धि करता रहे। पर मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त कभी हो ही नहीं सकता। आत्मा एक है और सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए एक मनुष्य की बुराई का असर प्रकारांतर से सभीपर होता है। इस न्याय से भी मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जबतक समाज का वह एक अंग है तब तक समाज की हस्ती के लिए भी जो हिंसा होती है उसका वह भागीदार तो है ही। जब दो राष्ट्रों में युद्ध होता है तब अहिंसा के उपासक का प्रथम कर्म तो है युद्ध को बन्द कराना। पर जो इसके लिए अयोग्य है जो युद्ध रोकने की शक्ति ना नहीं रखता वह चाहे युद्ध में शरीक तो हो पर साथ ही राष्ट्रों को तगार को और अपनेआपको युद्ध से मुक्त करने का प्रयत्न भी निरंतर करता रहे।

गांधीजी के तब के और आज के विचारों में कोई फर्क लगता है चाहे कार्यक्रम का बाहरी स्वरूप कुछ भिन्न मालूम क्यों हो। अहिंसा का पुजारी अपने धर्म का पालन पूर्णतया

तभी कर सकता हूं जबकि उसके कर्ममात्र का स्रोत केवल दया ही हो। यह वाक्य उनके तमाम निर्णयों के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध में शरीक होने में एक और दलील थी—

मैं अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मैं इंग्लैंड में ब्रिटिश नौ-सेना की सहायता से सुरक्षित था। चूंकि मैं इंग्लैंड की छत्रछाया में सुरक्षित था एक प्रकार से मैं इंग्लैंड की हिंसा में भी शरीक था। मैं इंग्लैंड से अपना नाता तोड़ने को यदि तैयार न था तो इस हालत में मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे या तो युद्ध के विरुद्ध बगावत करना और सत्याग्रह धर्म के अनुसार जबतक इंग्लैंड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इंग्लैंड की शहंशाहत से असहयोग करना अथवा कानून भंग करके जेल जाना अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जंग में सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की हिंसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूंकि मैं प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपनेआपको अयोग्य पाता था मैंने अंतिम मार्ग ग्रहण किया।

यह तर्क कुछ लम्बा-सा लगता है पर गांधीजी किस तरह निर्णय पहले करते हैं और दलीलें पीछे उपजाते हैं इसकी चर्चा आगे करेंगे। पर तर्क अकाट्य न भी हो तो न सही, गांधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जंचा उसीके पीछे वह चल पड़े। उनके तर्कों में जान-बूझकर आत्मवंचना

सहायता के बाद भारतीयों की स्थिति समझने के लिए उप निवेश-मन्त्री जोसेफ चेम्बरलेन जब अफ्रीका आये और हिन्दु स्तानियों की प्रतिनिधि-मण्डली उनसे मिलने के लिए प्रबन्ध करने लगी तो उन्होंने साफ कहला दिया कि "और सब आयें पर गांधी को नेता बनाकर न लाया जाय। उनसे एक बार मुलाकात हो चुकी है अब बार-बार उनसे नहीं मिलना है।" अंग्रेजों की यह पुरानी वृत्ति आज तक ज्यों की-त्यों जिन्दा है।

गोलमेज परिषद् हुई तब भारतीय प्रतिनिधिगण भारतीयों द्वारा चुने हुए नुमाइन्दे नहीं थे पर सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए थे। सरकार ने हमें शान्ति दी रक्षा दी परतन्त्रता दी तो फिर नुमाइन्दे भी वही नियुक्त क्यों न करे? आज भी कांग्रेस और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में इसी सिद्धान्त पर बहस चालू है। सरकार कहती है लड़ाई के बाद तमाम जातियों, समाजों और फिरकों के नुमाइन्दों से हिन्दुस्तान के नये विधान के सम्बन्ध में सलाह-मशवरा करेंगे। कौन जातियां हैं, कौन-से समाज हैं और कौन-से फिरके हैं इसका निर्णय भी सरकार ही करेगी। प्रान्तीय सरकारें चुने हुए नुमाइन्दों द्वारा संचालित हो रही थीं। पर वे नुमाइन्दे अपने घर रहें। सरकार तो अपनी आवश्यकता देखकर नये नुमाइन्दे पैदा करती है। गांधी दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों का प्रतिनिधि बनकर चेम्बरलेन से मिले यह अनहोनी बात कैसे बर्दाश्त हो सकती है? इसलिए गांधी नहीं मिल सकता।

पर गांधीजी पर इसका भी कोई बुरा असर नहीं हुआ। जब यूरोपीय युद्ध शुरू हुआ तब फिर सहायता दी। बाद में पंजाब में खून-खराबी हुई, रौलट कानून बना, जलियांवाला बाग आया। गांधीजी की श्रद्धा फिर भी जीवित रही। नये सुधार आते हैं तब गांधीजी उन्हें स्वीकार करने के पक्ष में जोर लगाते हैं। ऐसी गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा है—

तभी कर सकता हूं जबकि उसके कर्ममात्र का स्रोत केवल धर्म ही हो। यह वाक्य उनके तमाम निर्णयों के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध में शरीक होने में एक और दलील थी—

"मैं अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मैं इंग्लैंड में ब्रिटिश नौ-सेना की सहायता से सुरक्षित था। चूंकि मैं इंग्लैंड की छत्रछाया में सुरक्षित था एक प्रकार से मैं इंग्लैंड की हिंसा में भी शरीक था। मैं इंग्लैंड से अपना नाता तोड़ने को यदि तैयार न था तो इस हालत में मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे : या तो युद्ध के विरुद्ध बगावत करना और सत्याग्रह धर्म के अनुसार जबतक इंग्लैंड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इंग्लैंड की शहंशाहत से असहयोग करना, अथवा कानून भंग करके जेल जाना, अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जंग में सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की हिंसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूंकि मैं प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपनेआपको अयोग्य पाता था मैंने अंतिम मार्ग ग्रहण किया।"

यह तर्क कुछ लूला-सा लगता है, पर गांधीजी किस तरह निर्णय पहले करते हैं और दलील पीछे उपजाते हैं, इसकी चर्चा आगे करेंगे। पर तर्क अकाट्य न भी हो तो भी सही गांधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जंचा उसीके पीछे वह चले हैं। उनके तर्कों में जान-बूझकर आत्मवंचना नहीं होती। असल बात तो यह थी कि उनकी ब्रिटिश शासन पद्धति में बहुत श्रद्धा थी। दक्षिण अफ्रीका में उनके साथ इतना दुर्व्यवहार हुआ तो भी उनका धीरज और उनकी श्रद्धा अविचल रही। बोअर-लड़ाई में और जूलू-बलवे में यद्यपि उनकी सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों की तरफ थी तो भी अंग्रेजों की सहायता करना ही उन्होंने अपना धर्म माना। इस

जो तोको कांटा बुवे ताहि बोय तू फूल;
तोको फल के फूल है वाको है तिरसूल ।

गांधीजी की यह मनोवृत्ति एकबार, अखंडित रूप से आखिर तक जारी है। हालांकि ब्रिटिश राज्य की नेकनीयती में उनकी श्रद्धा अब उठ गई है फिर भी व्यवहार वही प्रेम और अहिंसा का है। गांधीजी अब भी 'फूल बोने' में मस्त हैं।

यह उनकी ब्रिटिश शासन की नेकनीयती में श्रद्धा ही थी जिसके कारण उन्होंने गत युद्ध में सहायता दी। उनकी दलील का निर्णय के बाद बनती है इसलिए पंगु-जैसी लगती है। पर चूंकि लड़ाई में सरकार को सहायता देना यह उस समय गांधीजी को अपना धर्म लगा उन्होंने मर्यादा के भीतर सहायता देने का निश्चय किया। बोअर-लड़ाई में और जूलू-विप्लव में गांधीजी की सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों के साथ होते हुए भी उन्होंने माना कि अंग्रेजों को सहायता देना उनका धर्म था इसलिए सहायता अंग्रेजों को दी। ऐसी असंगति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक कर्म जो एक समय धर्म होता है वही कर्म अन्य समय में अधर्म हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि धर्म की गति गहन है।

ऐसी ही एक असंगति की कहानी हमें महाभारत में मिलती है। महाभारत-युद्ध की जब सब तैयारी हो जाती है और योद्धा आमने-सामने आकर खड़े होते हैं तब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाकर प्रणाम करते हैं और युद्ध के लिए उनकी आज्ञा मांगते हैं। युधिष्ठिर की इस विनय से भीष्म अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और कहते हैं, पुत्र, तू युद्ध कर और जय प्राप्त कर। मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। और भी जो कुछ चाहता हो वह मांग। तेरी पराजय नहीं होगी। इतनी आशीष दी पर युद्ध तो भीष्म पितामह को दुर्योधन की ओर से ही करना था इसलिए असंगति को समझाते हुए कहा, 'मैंने कौरवों का अन्न खाया है इसलिए युद्ध तो उन्हींकी ओर से करूंगा, बाकी तो

कहता था वह पत्र द्वारा वाइसराय को लिखा। वह पत्र भी देखने-लायक है—

'मैं मानता हूं कि इस भयंकर घड़ी में ब्रिटिश राष्ट्र का—जिसके कि अत्यंत निकट भविष्य में हम अन्य उपनिवेशों की तरह साझेदार बनने की आशा लिये बैठे हैं—हमें प्रसन्नता-पूर्वक और स्पष्ट सहायता देनी चाहिए। पर यह भी सत्य है कि हमारी इस सेवा के पीछे यह आशा है कि ऐसा करने से हम अपने ध्येय को शीघ्र ही पहुंच जायंगे। कर्तव्य का पालन करने से अधिकार अपनेआप ही मिल जाते हैं और इसलिए लोगों को विश्वास है कि जिस सुधार की चर्चा आपने की है उसमें कांग्रेस-लीग की योजना को आप पूरी तरह से स्वीकार करेंगे। कई नेताओं का ऐसा विश्वास है और इसी विश्वास ने सरकार को पूर्ण सहायता देने पर नेताओं को आमादा किया है।

गांधीजी के पत्र का यह एक अंश है। कितना निर्मल विश्वास! उस समय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था। आज की तरह साम्प्रदायिक अनैक्य की दुहाई देने की कोई गुंजाइश न थी। लीग और कांग्रेस दोनों ने सम्मिलित योजना गढ़कर सरकार के सामने पेश की थी। पर सरकार ने उसे महत्त्व नहीं दिया। उसे अस्वीकार किया और इस तरह सारी आशाएं

गोखले के स्वागत में—दक्षिण अफ्रीका (सन् १९१२)

नहीं है। स्वतन्त्रता तो आयेगी ही, पर वह किस काम की यदि इंग्लैंड और फ्रांस मर मिटें या मित्रराष्ट्र जर्मनी को तबाह और दीन करके जीतें ?" इन दोनों उक्तियों में भी वही सादृश्य जारी है।

आगे चलकर गांधीजी ने वाइसराय चम्सफोर्ड को लिखा—'मैं चाहता हूं कि भारत हर हट्टे-कट्टे नौजवान को ब्रिटिश राष्ट्र की रक्षा के लिए होम दे। मुझे यकीन है कि भारत का यह बलिदान ही उस ब्रिटिश साम्राज्य का एक आदरणीय साझेदार बना देने के लिए पर्याप्त होगा। इस संकट के समय यदि हम साम्राज्य की जी-जान से सेवा करें और उसको भय से रक्षा करलें तो हमारा यह कार्य ही हमें हमारे ध्येय की ओर शीघ्रता से ले जायगा। अपने देशवासियों को मैं यह महसूस कराना चाहता हूं कि साम्राज्य की सेवा यदि हमने करली तो उस क्रिया में से ही हमें स्वराज्य मिल गया ऐसा समझना चाहिए।'

आश्चर्य है कि गांधीजी ने उस समय जिस भाषा का उपर्युक्त उक्ति में प्रयोग किया करीब-करीब वही भाषा आज सरकारी हलकों द्वारा हमारी मांगों के सम्बन्ध में प्रयोग की जाती है। वे कहते हैं कि इस समय केवल जंग की ही बात करो और जी-जान से हमारा पक्ष लेकर लड़ो। बस इसीमें तुम्हें स्वराज्य मिल जायगा। गत युद्ध में भी सरकार की तरफ से कहा गया था कि इस समय हमें सारे घरेलू झगड़ों को भूलकर युद्ध में दत्तचित्त हो जाना चाहिए और गांधीजी ने वैसा ही किया भी। भारत ने अपने नौजवानों की बलि भी चढ़ाई। धन को भी साम्राज्य-रक्षा के लिए फूंका। पर उससे भारत को स्वतन्त्रता नहीं मिली। युद्ध के अन्त में जब जलियांवाला बाग आया तब गांधीजी का यह विश्वास और श्रद्धा चूर-चूर हो गये पर तो भी व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ा।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध नम्बर दो में गांधीजी ने जिस नीति

का अवलम्बन किया है यह भी शुद्ध सत्याग्रह है। पिछले युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य की मनोवृत्ति में उन्हें जो श्रद्धा थी वह अब नहीं रही। पर सत्याग्रह की नीति ही उनके मतानुसार यह है कि जितनी ही अधिक बुराई विपक्ष में हो उतना ही ज्यादा हम अहिंसामय होने की जरूरत पड़ती है। इसलिए यद्यपि गांधीजी का असहयोग तो जारी है पर इस संकट काल में इंग्लैंड जरा भी तंग हो ऐसा कोई भी काम करना उन्हें रुचिकर नहीं है। नतीजा यह हुआ है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैंड की शक्ति कम होती गई, त्यों-त्यों गांधीजी इस बात का ज्यादा ख्याल करने लगे कि ब्रिटिश सरकार को किसी तरह हमारी ओर से परेशानी न हो।

पर पिछले युद्ध और इस युद्ध में एक और फर्क है और उस फर्क के कारण गांधीजी का युद्ध में शरीक होना या न होना इस निर्णय पर काफी असर पड़ा है।

गत युद्ध में हम बिलकुल पराधीन थे हमारी कोई जिम्मेवारी नहीं थी हमारी कोई पूछ नहीं थी। हम उपद्रव करके अंग्रेजों की सहायता मिलने में कुछ हद तक रुकावट अवश्य डाल सकते थे किन्तु यह कार्य सत्याग्रही नीति और गांधीजी की अहिंसा-नीति के खिलाफ होता। पर रुकावट डालना एक बात थी और सक्रिय सहायता देना दूसरी बात। रुकावट न डालते हुए भी सक्रिय सहायता देने में हम असहयोग कर सकते थे तो भी गांधीजी ने सक्रिय सहायता देना ही अपना धर्म माना। हम जब इंग्लैंड द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-सुविधा इस सुरक्षा का स्वीकार करते हैं, तब तो हमारा धर्म हो जाता है कि हम अंग्रेजों को सक्रिय सहायता दें और उनका आर्थिक नुकसान न होने दें। पर इस तर्क में आज की स्थिति में काफी प्राण नहीं है। क्योंकि तब की और अब की परिस्थिति में काफी अन्तर पड़ गया है। इसलिए वह पुरानी [illegible] आज की स्थिति में लागू नहीं होती।

इस बार युद्ध छिड़ा तब प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य था और उनमें से आठ प्रान्तों में तो स्वराज्य की बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। एक और प्रान्त में भी अर्थात् सिन्ध में आधी पक्की बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। इस तरह कुल नौ प्रान्तों में कांग्रेस का आधिपत्य था। केन्द्र में भी स्वराज्य का वादा हो चुका था। और अनुमान से भी यह कहा जा सकता है कि हम पूर्ण स्वराज्य के काफी निकट पहुंच गये हैं। इसलिए आज 'उन्हीं की दी हुई रक्षा से हम सुरक्षित हैं' ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज हम इस योग्य बन गये हैं कि हम अपनी ही रक्षा से भी सुरक्षित हो सकते हैं। हम गत युद्ध के समय जितने पराधीन थे उतने आज पराधीन नहीं हैं। हमें यह कहने का नैतिक स्वत्व—कानूनी न सही—अवश्य है कि हम अपनी रक्षा किस तरह करेंगे कैसे करेंगे। जहां इग्लैंड को परेशान न करना गांधीजी ने अपना धर्म माना वहां यह निश्चय करना भी उनका धर्म हो गया कि भारतवर्ष पर आक्रमण हो तो उस आक्रमण का मुकाबला—प्रतिरोध—हिंसात्मक उपायों द्वारा करना या अहिंसात्मक उपायों द्वारा। हम मारते-मारते मरें या बिना मारे भी मरना सीखें। तमाम परिस्थिति पर ध्यान पूर्वक सोच-विचार के बाद गांधीजी ने युद्ध छिड़ा तभी यह निश्चय कर लिया था कि उग्र हिंसा का सामना अहिंसा से ही हो सकता है। अबीसीनिया स्पेन और चीन के युद्ध में विपद्ग्रस्त राष्ट्रों को गांधीजी ने अहिंसा की ही सीख दी थी। जो सलाह अन्य विपद्ग्रस्त राष्ट्रों को दी गई थी क्या उससे विपरीत सलाह अपने देशवासियों को दें?

गांधीजी की दृष्टि से अहिंसा की जीवित कसौटी का समय आ चुका था। यदि अहिंसा के प्रयोग की सक्रिय सफलता का प्रदर्शन करना है तो इससे उत्तम अवसर और क्या हो सकता था? नैतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से युद्ध छिड़ने से पहले ही गांधीजी इस निर्णय पर पहुंच चुके थे कि

इतनी उग्र और सुव्यवस्थित हिंसा का सामना कम-से-कम हिंदुस्तान तो हिंसात्मक उपायों द्वारा कर ही नहीं सकता। उसके पास इतने उग्र साधन ही कहां हैं, जो सुव्यवस्थित मुल्कों के शस्त्रास्त्रों से मुठभेड़ ले सके? पर यह तो गौण बात थी। प्रधान बात तो यह थी 'क्या हम भयंकर हिंसा का अहिंसा से सफल मुकाबला करके संसार के सामने एक धार्मिक शस्त्र का प्रदर्शन नहीं कर सकते?' और इसी विचार ने गांधीजी को इस निर्णय पर पहुंचाया कि भारत और इंग्लैंड के बीच समझौता होने पर अंग्रेजों को नैतिक सहयोग अवश्य दिया जाय पर कम-से-कम कांग्रेस हिंसा में शरीक होकर अपनी नैतिक ध्वजा को झुकने न दे।

कांग्रेस के दिग्गज इस नीति की उत्तमता को महसूस करते थे पर इस मार्ग पर पांव रखने में ही हिचकते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवादी तो न लड़ने की नीति को धर्म भी नहीं मानते थे। युद्ध के शुरू-शुरू में इस प्रश्न ने इतना जोर नहीं पकड़ा। कांग्रेस की मांग सरकार के सामने रक्खी पड़ी थी। पर सरकार ने न तो उसे पूरा किया न कोई आशा दिखाई। इस तरह कांग्रेस के प्रस्ताव का मानसिक अर्थ दो पक्ष के लोगों का भिन्न-भिन्न था। गांधीजी सरकार से समझौता होने पर केवल नैतिक सहायतामात्र ही देना चाहते थे। अन्य दिग्गजों ने अपनी कल्पना पर भौतिक सहायता देना भी कर्तव्य मान रक्खा था। प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव कांग्रेस पास करती चली गई और इसका द्विअर्थी भावना भी दोनों पक्ष अपने-अपने मन में पुष्ट करते रहे।

गांधीजी ने तो ऐसे वक्तव्यों और वाइसराय की मुलाकातों में इस चीज़ को स्पष्ट कर दिया था कि हिंदुस्तान तो अंग्रेजों को नैतिक मदद ही दान दे सकता है। पर वाइसराय ने भी अपने मन में अवश्य मान रक्खा होगा कि

भौतिक बल का दान भी समझौता होने पर मिलना नितांत असम्भव नहीं। दिन निकले महीने निकले। जर्मनी की मृत्यु बाढ़ एक के बाद दूसरे राष्ट्र को अपने उदर में समेटती हुई आगे बढ़ती चली। जब फ्रांस का पतन हुआ तब 'मारते-मारते मरना' या 'बिना मारे मरना' यह प्रश्न तेजी के साथ महत्त्वपूर्ण बन गया। अबतक जिस तरह से दो पक्ष अपनी अपनी कल्पना लेकर गाड़ी हांकते थे वह अब असम्भव-सा हो गया। गांधीजी शुरू से इस भेद को जानते थे। शुरू से अपने सहकर्मियों से कहते थे कि मुझे छोड़दो। पर गांधीजी को जबतक कांग्रेसी उनके सहकर्मी छोड़ न दें तबतक वह कांग्रेस से निकल नहीं सकते थे। अंत में कांग्रेस के दिक्पालों ने देख लिया कि गांधीजी को अधिक दिन तक निबाहना उनके प्रति सरासर अन्याय है और वर्धा में २० जून १९४० को लम्बी बहस के बाद गांधीजी को बिदाई दे दी।

यह भी गांधीजी के जीवन की एक मनोरम घटना थी। शायद इसमें अत्यन्त मिलती जुलती घटना हमारे पुराणों में युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के वर्णन में मिलती है। गांधीजी से अन्य नेताओं के मतभेद की चर्चा करते हुए मैंने कहा "बापू! इसे मतभेद नहीं कहना चाहिए। एक शक्कर ज्यादा मीठी हो और दूसरी कम मीठी हो तो क्या हम यह कहेंगे कि दोनों शक्करों में मतभेद है? बात तो यह है कि आप जहां शुद्ध धर्म की बात करते हैं, वहां अन्य नेता आपद्धर्म की बात करते हैं। उनकी श्रद्धा इतनी बलवती नहीं है कि वे शुद्ध धर्म की वेदी पर कोरी ज्ञानवाली व्यावहारिकता का बलिदान करदें। और आप यह आशा भी कैसे कर सकते हैं कि आपकी जितनी सजीव श्रद्धा सभी के हृदय-पट पर अपना प्रभुत्व जमाए? जैसे युधिष्ठिर स्वर्ग में गये तब एक-एक करके उनके नित्यसंगी गिरते चले गये उसी तरह आपका हाल है। ज्यों-ज्यों आप बढ़ते हैं ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों आपके साथी पिछड़ते जाते हैं

थकान के मारे गिरते जाते हैं। पास में बैठी हुई डा सुशीला न मजाक में कहा पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता तो रहा। बापू! इस दृष्टांत से स्वर्ग पहुचनेवाला कुत्ता कौन-सा है? गांधीजी ने कहा पहले यह बताओ कि वह युधिष्ठिर कौन सा है? विषय व गांभीर्य ने सबके चेहरों पर जो एक सराह की सलवटें डाल दी थी व इस मजाक में रफा हुइ। सब खिल-खिलाकर हँस पड़े।

पर इसका नतीजा क्या होगा? अभी तो कालदेव इतिहास का निर्माण करते ही जाते हैं। मत तो बाकी है, होनहार भविष्य के गर्भ में है। पर एक बात स्पष्ट होगई। कांग्रेस की अहिंसा-नीति यह एक उपयोगितावाद था। गांधी जी की आत्मा यह उनका प्राण है। पर कौन कह सकता है कि गांधीजी की अहिंसा कांग्रेस को प्रभावान्वित न कर देगी? और जो अहिंसा अबतक उपयोगिता के बकने से ढकी थी वह अब अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न कर देगी?

दो महीने तक उपयोगिता के सवन के पश्चात् बम्बई में फिर गांधीजी के हाथ में बागडोर सौंपना क्या यह सिद्ध तो नहीं कर रहा है कि इच्छा या अनिच्छा से कांग्रेस शुद्ध गांधी वाद की तरफ खिंची जा रही है?

मान लीजिए कि जब बाहर के आक्रमणों से भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच उपस्थित होगा तब हमारे नेताओं का [illegible] मथन होनेवाला है। हिंसात्मक शस्त्रास्त्रों से [illegible] हमारी हौंस—यदि [illegible] बड़ी बात है। दूसरी ओर [illegible] शान पर चढ़कर [illegible] जो अस्त्र [illegible] इसलिए जिस दिन भारत [illegible] का प्रश्न सचमुच [illegible] उपस्थित होगा उस दिन [illegible] रहे

प्रिय है। और गांधीजी तो मानते ही यों हैं कि स्वराज्य भी अधिक-से-अधिक सेवा इसीमें है कि हम शुद्ध सत्याग्रह का अनुसरण करें। इसलिए गांधीजी ने ब्रिटिश सल्तनत को परेशानी में काफी बचाया। इंग्लैंड इसके लिए कृतज्ञ नहीं है और न इंग्लैंड की मनोवृत्ति में कोई फर्क पड़ा है। पर गांधीजी आशा किए बैठे हैं कि चमत्कार का युग गया नहीं है। जब तक ईश्वर है तबतक चमत्कार भी है। इस श्रद्धा की भाप से गांधीजी का स्टीम-एंजिन चला जा रहा है।

वर्तमान युद्ध के समय में गांधीजी में एक बात और मैंने देखी है। जबसे युद्ध चला है तबसे वह प्रायः सेवाग्राम में ही रहना पसन्द करते हैं। अति आवश्यकता के कारण एक बार उन्हें शिमला जाना पड़ा। रामगढ़-कांग्रेस में तो जाना ही था। वाइसराय के पास जब-जब जाना पड़ा तब-तब गये। पर इन यात्राओं को छोड़कर और कहीं न तो जाना चाहते हैं न बाहर जाने के किसी कार्यक्रम को पसन्द करते हैं। पहले के दो वादे बाहर जाने के थे वे भी उन्होंने वापस लौटा लिये। मुझसे भी एक वादा किया था पर वह लौटा लिया गया। क्यों? "मुझे, जबकि लड़ाई चलती है सेवाग्राम छोड़ना अच्छा नहीं लगता।" कुछ सोचते रहते होंगे। पर कभी उन्हें विचारमग्न नहीं पाया। फिर भी मालूम होता है कि वर्तमान युद्ध में उन्हें काफी विचार करना पड़ा है।

मर्म के व्याख्यान को मैं न सुन पाया होऊं ? यह बात सही भी थी । न मालूम कौन-सी शक्ति काम करती थी ! जब कभी कोई महत्त्व का पुरुष बोलने खड़ा होता था तो गांधीजी झट आंख खोल देते थे और समाप्ति पर फिर नींद ले लेते थे ।

पर मुझे यह स्थिति अच्छी नहीं लगती थी । साथवालों में आपस में हम लोग यह चर्चा किया करते थे कि बापू को चाहिए कि अपने मंत्रिवर्ग में कुछ नये आदमियों का और समावेश करें । इसकी क्या जरूरत है कि हर खत बापू या म[illegible]भाई ही हाथ से लिखें ? गांधीजी का दाहिना हाथ लिखते लिखते थक जाता था तो वह बायें हाथ से काम करने लगते थे । गोलमेज परिषद सम्बन्धी कामों की कभी-कभी वह अवहेलना भी करते थे । और इसके बदले गायों की प्रदर्शिनी में नाना किस्म की बकरियां देखना साधारण मनुष्यों से मि[illegible] जलना [illegible] गरह की बस्तियों को काफी से ज्यादा सम[illegible] देना ये सब चीजें चलती जा रही थीं । अक्सर गरीबों के [illegible] ना ग [illegible] कर दिया करते थे कि मेरी गोल म[illegible] [illegible] मह[illegible] में नहीं इन बच्चों के बीच में [illegible] रहनेवालों को समझनी भी थी ।

पता नहीं क्या कहूंगा। और वहां पहुंचते ही कोई अमाली बात कह बैठते हैं। यह एक अद्‌भुत चीज है।

अहमदाबाद में मिल-मजदूरों की हड़ताल हुई। न्याय मजदूरों के साथ था यह गांधीजी ने माना था। मिल-मालिकों से भी प्रेम था। इसलिए एक हद तक तो प्रेम का भी झगड़ा था। मजदूर पहले तो जोश में रहे पीछे ठंडे पड़ने लगे। भूख के मारे चेहरों पर हवाइयां उड़ने लगीं। मजदूरों की सभा में गांधीजी व्याख्यान दे रहे थे। मजदूरों के चेहरे सुस्त थे। अचानक गांधीजी के मुंह से निकल पड़ा 'यदि हड़तालो डटे न रहे और जबतक फैसला न हो तबतक हड़तालियों ने हड़ताल को जारी न रक्खा तो मैं भोजन न छूऊंगा।' यह अचानक निर्णय मुंह से निकल पड़ा। न पहले कोई विचार उपवास का था न कोई मन में तर्क करके नफे का मोल-तोल था। राजकोट का उपवास भी इसी तरह अचानक ही किया गया था।

क्योंकि मत यह पाया है कि उनका निर्णय उनकी दलीलों से कहीं अधिक प्राबल्य रखता है, कहीं अधिक अकाट्य होता है।

चार तरह के सत्यानाश वाली स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य में जो शपथ है उसमें कथन है कि अंग्रेजों ने भारतवर्ष का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नाश किया है। यह पुरानी शपथ है जो वर्षों से चली आती है। पर इस साल काफी कोलाहल हुआ। अंग्रेजी पत्रकारों ने और कुछ प्रमुख नेताओं ने कहा कि "यह सरासर झूठ है। हम लोगों ने कब आध्यात्मिक या सामाजिक नाश किया? यह कथन ही नितान्त असत्य है कि हमने भारतीय अध्यात्म या संस्कृति का खून किया है।"

बात में कुछ वजन भी है, पर जैसा कि हर दफा होता है, गांधीजी जो कहते हैं उसका अर्थ जनता या सर्वसाधारण कुछ भी करे, गांधीजी को तो वही अर्थ मान्य है जो उनका अपना है। वह शब्दों के साहित्यिक अर्थ के कायल नहीं हैं। वह शब्दों में जो तत्त्व भरा रहता है उसके पक्षपाती हैं। कांग्रेस ने कहा, आजादी चाहिए। गांधीजी ने कहा कि "हां, आजादी चाहिए।" पर जवाहरलालजी आजादी मांगते हैं तो वह कुछ अलग चीज चाहते हैं। गांधीजी की आजादी अलग चीज है। गांधीजी की आजादी पूर्ण स्वराज्य तो है ही, पर कई पहलुओं से महज राजनैतिक आजादी की अपेक्षा अधिक [illegible] गांधीजी के पूर्ण स्वराज्य में अंग्रेजों के लिए [illegible] भारतीयों के लिए भी भूख की नींद नहीं। [illegible] गांधीजी पूर्ण स्वराज्य शब्द का प्रयोग [illegible] फिर रामराज्य कह जाते हैं।

असल में तो वह रामराज्य ही चाहते हैं। कई मर्तबा उन्होंने पाश्चात्य चुनाव प्रणाली की निन्दा की है और राम-राज्य को अच्छा माना है। क्योंकि उनकी दृष्टि में रामराज्य के मानी पूर्ण स्वराज्य हो सकता है, पर पूर्ण स्वराज्य के मानी

राक्षस-राज्य भी हो सकता है। अमेमी स्वतन्त्र है ऐसा हम मान सकते हैं। पर गांधीजी ऐसी स्वतन्त्रता नहीं चाहते। वह मुद्दे के पीछे चलते हैं शब्द के गुलाम नहीं है। इसको कहो या और किसी नाम से पुकारो वह एक पोषक और स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। वह शब्द का ऐसा अर्थ करते हैं कि जिसके पीछे कुछ मुद्दा रहता है तथ्य रहता है। इसलिए हर शब्द-का अपना अर्थ करते हैं और उसी पर डटे रहते हैं। इसमें बहुत गलतफहमियां हो जाती हैं पर इससे उनको व्याकुलता नहीं होती।

कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली शब्द के अर्थ का भी शायद यही हाल है। रामगढ़ के सविनय आज्ञा-भंग के प्रस्ताव के पीछे जो कैद लगी है उसको लोग भूल जाते हैं और आज्ञा-भंग को याद रखते हैं। पर गांधीजी आज्ञा भंग को ताक पर रखकर उसके पीछे जो कैद है उसकी रटन करते हैं। लोग जब रसगुल्ला-रसगुल्ला चिल्लाते हैं तब उनकी मंशा होती है एक गोल अंडाकार सफेद चीज से जो मीठी और रसभरी होती है। पर गांधीजी इतने से संतुष्ट नहीं। उन्हें गोलाकार, अंडाकार या सफेद की परवा नहीं। चाहे चपटी क्यों न हो चाहे पिसाल लिये क्यों न हो पर मीठी तो हो ही ताजगी भी लिये हो। उसमें कोई जहर न मिला हो स्वच्छ दूध की बनी हो जो-जो उसमें वांछनीय चीज होती है वे सब हों फिर शक्ल चाहे कुछ भी हो रंगरूप की कोई कैद नहीं। शक्कर सफेद न हो और लाल हो और उसके कारण रसगुल्ले का रंग यदि लाल है तो उन्हें ज्यादा पसन्द है। गांधीजी ने जब 'चार सत्यानाश' वाली शपथ का समर्थन किया तो उनका अपना अर्थ कुछ और था कांग्रेस का अर्थ कुछ और था।

इसलिए जब कुछ प्रतिष्ठित अंग्रेजों ने इस शपथ की शिकायत की और इसे असभ्य और हिंसात्मक बताया तो झट गांधीजी ने अपनी व्याख्या दे डाली—"मेरे पिताजी

सीधे-सादे आदमी थे। पांव में मरम चमड़े का वही जूता पहना करते थे। पर जब उन्हें गवर्नर के दरबार में जाना पड़ा तो मोजा पहना और बूट पहने। कलकत्ते में मैंने देखा कि कुछ राजा-महाराजाओं को कर्जन के दरबार का न्यौता आया तो उन्हें अजीब तैयारियां करनी पड़ीं। उनकी बनावट और स्वांग इतने भद्दे थे कि मानो वे खानसामा के भेष में हों ऐसे लगते थे। हजारों भारतीय ऐसे हैं जो अंग्रेजीदां तो बन गये पर अपनी भाषा से कोरे हैं। क्या यह संस्कृति और अध्यात्म का ह्रास नहीं है? माना कि यह हमने अपनी स्वेच्छा से किया पर स्वेच्छा से हमने आत्म-समर्पण किया, इससे क्या अंग्रेजों का दोष कम हो जाता है? जो बेड़ियां बंदी को बंधन में रखती हैं उन्हींकी यदि बंदी पूजा करने लग जाय और अपने बंधनकर्त्ता का अनुवर्तन करे तो फिर ह्रास का कौन-सा अध्याय बाकी रहा?

यह कुछ अनोखी-सी दलील है, पर इस दलील ने 'शपथ' से पैदा हुई कटुता को अवश्य ही कम कर दिया। साथ ही गांधीजी के विपक्षियों को यह लगे बिना नहीं रहा कि बाल की खाल खींची जाती है। पर दरअसल बात तो यह है कि उस शपथ के बारे गांधीजी के अपने और रहे हैं लोगों के कुछ और। गांधीजी के निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। तर्क पीछे आता है निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालों को निर्णय में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना पड़ता। एक अच्छी बंदूक से निकली हुई गोली सहसा तेजी के साथ निशाने पर जाकर लगती है। उसी तरह स्थितप्रज्ञ का निर्णय भी यंत्र की तरह स्पष्ट बनता है क्योंकि "सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।"

पर यह उनकी विभूति—और हमें विभूति के अलावा और क्या कह सकते हैं?—मित्र और विपक्षी दोनों को उलझन में डाल देती है। यह चीज गांधीजी को रहस्यमय

बना देती है। इसके कारण कितने ही लोग उनके कथन को अक्षरशः न स्वीकार करके उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं।

गांधी-अरविन पैक्ट के समय की बात है। करीब-करीब सारी चीजें तय हो गईं। एक-एक वाक्य वाइसराय और गांधीजी ने आपस में मिलकर पढ़ लिया। पढ़ते-पढ़ते वाइसराय के घर पर दोपहरी हो गई। वाइसराय ने कहा, मैं भोजन कर लेता हूं। आप भी थक गये हैं। मेरे कमरे में आप सो जाइए, फिर उठकर आगे काम करेंगे। गांधीजी सो गये। ढाई बजे सोकर उठे हाथ-मुंह धोया। गांधीजी का कथन है, 'मुझे कुछ बेचैनी-सी मालूम हुई। मैंने सोचा यह क्या है? बेचैनी क्यों है? यह शारीरिक बेचैनी नहीं थी यह मानसिक बेचैनी थी। लगा कि मैं कोई पाप कर रहा हूं। इकरारनामे का मसविदा मैंने लिया और उसे पढ़ना शुरू किया। पढ़ते-पढ़ते जमीन सम्बन्धी धारा पर पहुंचते ही मेरा माथा ठनका। बस मैंने जान लिया यहीं भूल हो रही थी। वाइसराय से मैंने कहा यह मसविदा ठीक नहीं है। मैं इसे नहीं मान सकता। यह सही है कि मैंने इसकी स्वीकारोक्ति दे दी थी पर मैंने देखा कि मैं पाप कर रहा था। इसलिए मैं इस स्वीकारोक्ति से वापस हटता हूं।

वाइसराय बेचारा हक्का-बक्का रह गया। यह भी कोई तरीका है? दलीलें तो गांधीजी के पास हजार थीं और दलीलें शिकस्त देने वाली थीं। पर दलीलों ने माद्य-मञ्च पर पीछे प्रवेश किया पहले आया निश्चय। अन्त में वाइसराय दलीलों के कायल हुए। पर क्या वाइसराय ने नहीं माना होगा कि यह आदमी टेढ़ा है।

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाया जाता है। इसके निश्चय का इतिहास भी ऐसा ही है। कुछ दिन पहले तक गांधीजी ने इसकी कोई कल्पना ही नहीं की थी। एक रात गांधीजी सो जाते हैं। रात को स्वप्न आता है कि तारीख ६

का सत्याग्रह-दिवस मनाओ। सहकर्मी कहते हैं कि अब समय नहीं रह गया सफलता मुश्किल है। पर इसकी कोई परवाह नहीं। मुनादी फिरायी जाती है और छः तारीख का दिन शान के साथ सफल होता है। क्या यह कोई दलील पर बना हुआ निर्णय था? क्या सहकारियों ने नहीं सोचा होगा कि यह कैसा बेजोड़ आदमी है जो हठात् निर्णय करता है और दलीलें पीछे से पैदा करता है? पर मेरा खयाल है कि जो अंतरात्मा से प्रेरित होकर निर्णय करते हैं उनके निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। पर यह अंतरात्मा सभी को नसीब नहीं होती। यह क्या वस्तु है इसके समझने का प्रयास भी कठिन है। प्रस्तुत विषय तो इतना ही है कि गांधीजी के निर्णय कैसे हुआ करते हैं।

१६

जबसे मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ तबसे मेरा उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल मैं समालोचक होकर उनके छिद्र ढूंढने की कोशिश करता था क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इन की ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम देता था। पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढने के लिए मैं गहरे उतरा त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत हो गई और फिर आदर ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।

हम जब स्वप्नावस्था में होते हैं तब न करने योग्य कार्य कर लेते हैं जो जाग्रत अवस्था में हम कभी न करें। पर शारीरिक जाग्रत अवस्था में भी मानसिक सुषुप्ति रहती है और ध्यानपूर्वक खुर्दबीन से अध्ययन करनेवाले मनुष्य को कहानी बेहोशी में किये गए कामों से उस तिल के तेल का माप मिल जाता है। गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यन्त निकट से 'सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया। मालूम होता है, वह हर पल जाग्रत रहते हैं। इसलिए जब वह मुझे कहते हैं कि "हर पल मेरा जीवन ईश्वर-सेवा में व्यतीत होता है" तो मैं इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं पाता। ऐसा कथन अभिमान की निशानी नहीं है क्योंकि गांधीजी

यह है कि मैं द्रष्टा होकर भी यह मान सकता हूं कि मैं अमुक से ऊँचा हूं अमुक से नीचा।

इस बहस ने उन्हें कायल नहीं किया तो मैंने मुद्दे की दलील पेश की: आप अपने ही को लीजिए। आप ईश्वर से अधिक निकट हैं बनिस्बत मेरे। अब क्या आप इस बात को आपमें अभिमान न होते हुए भी भूल जायंगे कि आप ऊँचे हैं और मैं नीचा हूं?

पर यह बात ही सही नहीं है, क्योंकि जबतक हम अपनी मंजिल तय न करलें कौन कह सकता है कि ईश्वर के निकट कौन है और दूर कौन? जो दूर दिखाई देता है वह निकट भी हो सकता है और जो निकट दिखाई देता है वह दूर भी हो सकता है। मैं हिंदुस्तान से एक बार अफ्रीका जा रहा था। जहाज पर ठीक समय न पहुंच सका। लंगर उठ चुका था, इसलिए एक नाव में बैठाकर मुझे जहाज के पास पहुंचाया गया। पर तूफान इतना था कि कई बार मेरी किश्ती जहाज के बाजू से टकरा-टकराकर दूर हट गई। अंत में जैसे-तैसे मुझे जहाज पर चढ़ाया गया। पर यह भी संभव था कि जैसे किश्ती कई बार जहाज से टकराकर दूर निकल गई, वैसे दूर ही रह जाती और मैं जहाज पर सवार हो न हो पाता। क्या केवल किश्ती के छू जाने से हम यह कह सकते हैं कि हम जहाज के निकट पहुंच गये? निकट पहुंचकर भी तो दूर चले जा सकते हैं। तो मैं फिर कैसे मानूं कि मैं ईश्वर के निकटतर हूं और अमुक मनुष्य दूर है? ऐसी कल्पना ही भ्रममूलक है और अहंकार से भरी है।

मुझे यह दलील मोहक लगी। अधिक मोहक तो यह चीज लगी कि गांधीजी किस हदतक जाग्रत हैं। राजा का स्वांग भरनेवाला कलाकार अपने स्वांग से मोहित नहीं होता। गांधीजी अपने बड़प्पन में बमान नहीं हैं। अहंकार मोह

का एक दूसरा नाम है। जाग्रत मनुष्य को मोह कहां अहंकार कहां ? यही कारण है कि गांधीजी कभी-कभी निस्संकोच आत्मश्लाघा भी कर बैठते हैं। "मैं प्रचार-शास्त्र का पंडित हूं अखबारनवीसी में निपुण हूं मैं पक्का बनिया हूं म शरीर शास्त्र का विद्यार्थी हूं मेरा दावा है कि मैं अट्ठाईस वर्ष से गीता के अनुसार आचरण करता आ रहा हू (यह सन् १९२९ ई म इन्होंने लिखा था) मैं सत्य का पुजारी हू मेरा जीवन अहर्निश ईश्वर-सेवा में बीतता है।" इस शब्दावली म और किसीके मुंह से अहंकार की गंध आ सकती है पर गांधीजी के मुंह से नहीं। क्योंकि गांधीजी तटस्थ होकर अपनी विवेचना करते हैं।

एक दक्ष सर्जन छुरी लेकर चीरफाड़ करके मनुष्य-शरीर के भीतर छिपे हुए अवयवों को दर्शकों के सामने ला देता है। वह उन हिस्सों को निर्दयता से काट डालता है टांके लगाता है और इस बेरहमी से छुरी चलाता नजर आता है मानो वह जिंदा शरीर पर नहीं बल्कि एक लकड़ी पर कौशल दिखला रहा हो। पर वही सर्जन यह व्यवहार अपने ऊपर नहीं कर सकता। ऐसा सर्जन कहां जो हंसते-हंसते काम पड़ने पर अपना सड़ी टांग को काट फेंके ? पर गांधीजी वैसे सर्जन हैं। उनके स्वार्थ ममता गलित हो गये हैं

का प्रयत्न करता आ रहा हू। ये उक्तियां अभिमान की नहीं एक तटस्थ जर्राह की है जो उसी दक्षता और कुशलता से अपने-आपको चीर-फाड़ सकता है जिस दक्षता से वह औरों की चीरफाड़ करता है।

सूक्ष्मतया अध्ययन करनेवाले को सहज ही पता लग जाता है कि अभिमान गांधीजी को छू तक नहीं गया। मेरा खयाल है कि मनुष्यों की परख छोटे कामों से होती है न कि बड़े कामों से। बड़े-से-बड़ा त्याग करनेवाला रोजमर्रा के छोटे कामों में लापरवाही भी कर बैठता है और कभी-कभी अत्यन्त कमीना काम भी कर लेता है। कारण यह है कि बड़े कामों में लोग जाग्रत रहकर काम के साथ-साथ आत्मा को जोड़ देते हैं इसलिए वह कार्य दिप उठता है। पर छोटे कामों में लापरवाही में मनुष्य असावधान बन जाता है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में यह साबित हो जाता है कि उसका त्याग उसका एक स्वाभाविक धर्म नहीं बन गया है। पर गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि चाहे छोटा हो या बड़ा सभी काम वह जाग्रत हो कर करते हैं। इसके माने ये हैं कि त्याग सत्य अहिंसा इत्यादि उनका स्वाभाविक धर्म बन गया है। उन्हें धर्म पालन करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता और यदि प्रयत्न करना पड़ता है तो अत्यत सूक्ष्म। वह आठ पहर जाग्रत रहते हैं। यह कोई साधारण स्थिति नहीं है।

१७

गांधीजी को एक महात्मा के रूप में हमने देखा एक नेता के रूप में भी देखा पर गांधीजी का असल रूप तो 'बापू' के रूप में देखने को मिलता है। सेवाग्राम में बड़े-बड़े मेहमान आते हैं। वाइसराय से खतोकिताबत होती है वर्किंग कमेटी की बैठकें होती हैं बड़े-बड़े नेता आते हैं। मंत्रिमंडल में लोग कांग्रेस राज के जमाने में सलाह-सूत के लिए आते ही रहते थे। पर आश्रमवासी न बड़े लोगों की चिट्ठियों से चौंधियाते हैं न बड़े नेताओं को देखकर मोहित होते हैं न राजनीति में उन्हें कोई बड़ी भारी दिलचस्पी है। उन्हें तो बापू ने क्या खाया क्या पिया कब उठ गये कब सो गये फलां से क्या कहा फलां ने क्या सुना इन बातों में ज्यादा रस है। और गांधीजी भी आश्रम की छोटी-छोटी चीजों में आवश्यकता से अधिक रस लेते हैं।

आश्रम भी क्या है एक अजीब मंडली है। उसे शिवजी की बरात कहना चाहिए। कई तरह के तो रोगी हैं जिनकी चिकित्सा में गांधीजी खास दिलचस्पी लेते हैं। पर सब-के-सब बापू के पीछे पागल हैं। मैंने एक रोज देखा कि एक रोगी के लिए जाड़े में ओढ़ने के लिए रजाई बनाई जा रही है। बा की फटी पुरानी साड़ियां लाई गईं। गांधीजी ने अपने हाथ से उन्हें नापा। कितना कपड़ा लगेगा इसकी जांच की गई। रजाई के भीतर रुई की जगह पुराने अखबारों को एक के ऊपर दूसरा रखकर कपड़े के साथ सीया जा रहा था। गांधीजी ने सारा काम दिलचस्पी से कराया। मुझे बताया कि अखबार रुई से ज्यादा गरम है। मुझे लगा कि ऐसे-ऐसे कामों में क्या इनका बहुमूल्य समय लगाना चाहिए? मैंने मजाक में कहा

'जान पड़ता है आपको आश्रम के इन कामों में देश के बड़े बड़े मसलों से भी ज्यादा दिलचस्पी है।' 'ज्यादा तो नहीं पर उतनी ही है ऐसा कहो।"

मैं अवाक रह गया। क्योंकि गांधीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया था मजाक में नहीं। पर बात सच्ची है। शायद इसका यह भी कारण हो कि गांधीजी रात-दिन यदि गम्भीर मसलों पर ही विचार किया करें, तो फिर तनिक भी विश्राम न मिले। शायद आश्रम उनके लिए परोपकार और क्लेश की एक सम्मिलित रसायन-शाला है। आश्रम गांधीजी का कुटुम्ब है। महान्-से-महान् व्यक्ति को भी कौटुम्बिक सुख की चाह रहती है। गांधीजी का वसे तो सारा विश्व कुटुम्ब है पर आश्रम के कुटुम्ब की उनपर जिम्मेदारी है। उस जिम्मेदारी को वह निर्मोही होकर निवाहते हैं।

आश्रम में उन्होंने इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव और शक्ति के आदमी रक्खे हैं कि बाहरी प्रेक्षक को अचम्भा होता है कि यह शिवजी की बरात क्यों रक्खी है! परन्तु एक-एक का परिचय करने से पता चलता है कि हरेक का अपना स्थान है। बल्कि गांधीजी उनमें से कई को कुछ बातों में तो अपने से भी अधिक मानते हैं। किसी आध्यात्मिक प्रश्न का निराकरण करना होता है तो वह अक्सर अपने साथियों—विनोबा किशोरलाल भाई, काका साहब आदि को बुला लेते हैं। ऐसे साथियों को रखकर ही मानो उन्होंने अपने मन में उच्च-नीच भावना नष्ट कर डाली है। जो काम हल्के-से-हल्का माना जाता है उसे करनेवाला और जो काम ऊँचे-से-ऊँचा माना जाता है उसे करनेवाला दोनों आश्रम में भोजन करते समय साथ-साथ बैठते हैं। जैसे पंक्ति में उच्च-नीच का भेद नहीं है, वैसे ही गांधीजी के मन में और उनके आश्रमवासियों के मन में भी यह भेद नहीं है।

कुछ दिन पहले की बात है। वाइसराय से मिलने के

लिए गांधीजी दिल्ली आये हुए थे। पर वापस सेवाग्राम पहुंचने की तालावेली लगी हुई थी। वापस पहुंचने के लिए एक प्रकार का अधैर्य-सा टपकता था। अंत में गांधीजी ने जब देखा कि शीघ्र वापस नहीं जा सकते तो महादेवभाई को झटपट सेवाग्राम लौटने का आदेश दिया। काम तो काफी पड़ा ही था और मैं नहीं समझ सका कि इतने बड़े मसले के सामने होते हुए कैसे तो वापस जाने का उतावलापन वह खुद कर सकते थे और कैसे महादेवभाई को यकायक वापस लौटा सकते थे। मैंने कहा इतने बड़े काम के होते हुए वापस लौटने का यह उतावलापन मुझे कुछ कम जंचता है। पर मेरी जिम्मेदारी का तो खयाल करो गांधीजी ने कहा "मैं सेवाग्राम में एक मजमा लेकर बैठा हूं। रोगी तो हैं ही पर पागलपन भी वहां है। कभी-कभी तो मन में आता है कि बस अब मैं सबको छोड़ दूं और केवल महादेव को ही पास रक्खूं। बा चाहे तो वह भी रहे। पर सबको छोड़ दूं तब तो जिम्मेदारी से छूट जाता हूं। पर जबतक इस मजमे की जिम्मेदारी लेकर बैठा हूं तबतक तो मुझे उस जिम्मेदारी को निबाहना ही चाहिए। यही कारण है कि मेरा शरीर तो दिल्ली में है पर मेरा मन सेवाग्राम में पड़ा है।

सेवाग्राम के कुटुम्ब के प्रति उनके क्या भाव हैं इसपर उनके उद्‌गार कुछ प्रकाश डालते हैं।

१८

गांधीजी के यहां एक-एक पैसे का हिसाब रक्खा जाता है। गांधीजी की आदत बचपन से ही रुपये-पैसे का हिसाब सावधानी से रखने की रही है। गांधीजी व्यवस्थाप्रिय हैं। यह भी बचपन से ही उनकी आदत है। इसलिए उनकी झोंपड़ी साफ-सुथरी लिपी-पुती और व्यवस्थित है। कमर में कछनी है वह भी व्यवस्थित। वाइसराय ने कहा कि गांधीजी बूढ़े तो हैं पर उनकी चमड़ी की चिकनाहट युवकों की-सी है। यह सही बात है कि स्वास्थ्य का पूरा यत्न रखते हैं। हर चीज में किफायतसारी की जाती है। कोई पिन चिट्ठियों में लगी आई, तो उसको निकालकर रख लिया जाता है।

लन्दन जाते समय जहाज पर एक गोरा था जो गांधीजी को नित्य कुछ-न-कुछ गालियां सुना जाया करता था। एक रोज उसने गांधीजी पर कुछ व्यंग्यपूर्ण कविता लिखी और गांधीजी के पास उसके पन्ने लेकर आया। गांधीजी को उसने पन्ने दिये तो उन्होंने चुपचाप पन्नों को फाड़ रद्दी की टोकरी में डाल दिया और उन पन्नों में लगी हुई पिन को सावधानी से निकालकर अपनी डिबिया में रख लिया। उसने कहा "गांधी पढ़ो तो सही इसमें कुछ तो सार है। 'हां जो सार था वह तो मैंने डिबिया में रख लिया है। इसपर सब हँस और वह अंग्रेज खिसियाना पड़ गया।

मैंने देखा है कि छोटी-सी काम की चीज को भी गांधीजी कभी नहीं गंवाते। एक-एक दो-दो गज के सुतली के टुकड़ों को सुरक्षित रखते हैं जो महीनों बाद काम पड़ने पर साव धानी से निकाल लेते हैं। उनके चरखे के नीचे रखने का काला कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा आज कोई बारह साल से देखता

हूं चला आ रहा है। लोगों की चिट्ठियों में से साफ कागज निकालकर उसके लिफाफे बनवाकर उन्हें काम में लाते हैं। यह दरम एक हद दर्जे के मक्खीचूस से भी बाजी मारता है।

लन्दन की बात है। गांधीजी का नियत स्थान था शहर से दूर पूर्वी हिस्से में। दफ्तर था पश्चिमी हिस्से में जो नियत स्थान से सात-आठ मील की दूरी पर था। दिन का भोजन दफ्तर में ही—जो एक मित्र के मकान में था—होता था। नियत स्थान से भोजन का सामान रोजमर्रा दफ्तर में ले आया जाता था।

भोजन के साथ-साथ कभी-कभी गांधीजी शहद भी लेते हैं। हम लोग इंग्लैंड जाते समय जब मिस्र से गुजरे, तो वहां के मिस्री लोगों ने शहद का एक मटका भरकर गांधीजी के साथ दे दिया था। उसीमें से कुछ शहद रोजमर्रा भोजन के लिए अलग लिया जाता था। उस रोज भूल से मीराबेन घर से शहद लाना भूल गईं और जब समय पर खयाल आया कि शहद नहीं है तो पास जाने की एक बोतल मंगाकर भोजन के साथ रखदी। गांधीजी भोजन करने बैठे तो नजर शीशी पर गई। पूछा—यह शीशी कैसे ? उत्तर में बताया गया कि क्यों शहद खरीदना पड़ा। 'यह पैसे की बर्बादी क्या ? क्या लोगों के लिए हुए पैसे का हम इस तरह दुरुपयोग करते हैं। एक दिन शहद के बिना क्या मैं भूखा मर जाता

कपड़ों का खूब एहतियात रखते हैं। ज़रा फटा कि उसपर कारी लगती है। हर चीज़ को काफ़ी स्वच्छ रखते हैं पर कंजूसी यहां तक चलती है कि पानी को भी फ़िज़ूल-खर्च नहीं करते। हाथ-मुंह धोने के लिए बहुत ही थोड़ा-सा पानी लेते हैं। पीने के लिए उबला हुआ पानी शीशी में रखते हैं जो ज़रूरत पड़ने पर पीने और हाथ-मुंह धोने के काम आता है।

१६

गांधीजी की दिनचर्या भी व्यवस्थित है। एक-एक मिनट का उपयोग होता है। बाहर से काफी भारी डाक आती है उसका उत्तर भेजना पड़ता है। अक्सर वह खाते-खाते भी पढ़ते हैं। कभी-कभी खाते-खाते किसीको वार्तालाप के लिए भी समय दे देते हैं। घूमने का समय भी बेकार नहीं गुजरता।

गांधीजी प्राय चार बजे उठते हैं। उठते ही हाथ-मुँह धोकर प्रार्थना होती है। इसके बाद शौचादि से निवृत्त हो सात बजे सबह कुछ हल्का-सा नाश्ता होता है। उसके बाद टहलना होता है। फिर काम मे लग जाते हैं। नौ बजे के करीब तेल-मालिश कराते हैं पर काम मालिश के समय भी चलता रहता है। फिर स्नान से निवृत्त होकर ग्यारह बजे भोजन करते हैं। एक बजे तक काम करके कुछ झपकी लेते हैं। दो बजे के करीब उठते हैं उसके बाद फिर शौच जाते हैं। उस समय भी कुछ काम तो जारी रहता है। शौच के बाद पेट पर मिट्टी की पट्टी बांधकर कुछ विश्राम करते हैं पर काम लेटे-लेटे भी जारी रहता है। चार बजे के करीब चरखा कातते हैं। फिर लिखने-पढ़ने का काम होता है। पांच के करीब शाम का ब्यालू होता है, उसके बाद टहलना। सात बजे प्रार्थना फिर कुछ काम और नौ-साढ़े नौ बजे के करीब सो जाते हैं।

आवश्यकता होने पर रात को दो बजे भी उठ जाते हैं और काम शुरू कर देते हैं। गांधीजी का भोजन सीधा-सादा है पर साल-दो साल में हेर-फेर होते रहते हैं। एक जमाना था जब केवल मूंगफली और गुड़ खाकर ही रहते थे। बहुत वर्षों पहले मैंने देखा था वह दूध का बिलकुल परित्याग करके

उसके बंगले में सौ स ज्यादा बादाम रोज खाते थे। कई वर्षों पहले एक मर्तबा मैंने भी देखा था कि रोटी का परित्याग करके करीब एक सौ खजूर खाते थे। इसी तरह एक जमाने में रोटी ज्यादा खाते थे फल कम खाते थे इसी तरह के प्रयोग और रद्दोबदल भोजन में चलते ही रहते हैं। कुछ ही वर्षों पहले नीम की कच्ची पत्तियां और इमली का बड़े जोरों से प्रयोग जारी था पर बाद में उसे छोड़ दिया। कच्चे अन्न का प्रयोग भी बीमार होकर छोड़ा।

ये सब प्रयोग हर मनुष्य के लिए अवांछनीय हैं। आज-कल गांधीजी का भोजन खूब करकरी सिकी पतली रूखी रोटी उबला हुआ साग गुड़ लहसुन और फल है। हर चीज में थोड़ा-सा सोडा डाल लेते हैं। उनकी राय है कि सोडा स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज है। एक दिन में पांच से अधिक चीजें गांधीजी नहीं खाते। इस गणना में नमक भी शुमार में आ जाता है।

गांधीजी अपनी जवानी में पचास-पचास मील रोजाना चल चुके हैं पर बुढ़ापे में भी इन्होंने टहलने का व्यायाम कभी नहीं छोड़ा। कभी-कभी कहते हैं कि खाना एक रोज न मिले तो न सही नींद भी कम मिले तो चिंता नहीं पर टहलना न मिले तो बीमारी आई समझो। पेट पर रोजमर्रा एक घंटे तक मिट्टी की पट्टी बांधे रखते है इसका भी काफी माहात्म्य बताते हैं।

नींद का यह हाल है कि जब चाहें तब सो सकते हैं। गांधी-अरविन समझौते के समय की मुझे याद है कि मेरे यहां कुछ अंग्रेजों ने गांधीजी से मिलना निश्चित किया था। निर्धारित समय से पंद्रह मिनट पहले गांधीजी आये। कहने लगे मुझे आज नींद की जरूरत है कुछ सो लूं। मैंने कहा "सोने का समय कहां है? पंद्रह मिनट ही तो हैं। उन्होंने कहा "पंद्रह मिनट तो काफी हैं। झट खटिया पर

लेट गये और एक मिनट के बाद गाढ़ निद्रा में सो गये। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पन्द्रह मिनट के बाद अपनेआप ही उठ गये। मैंने एक बार कहा 'आपमें सोने की शक्ति अद्भुत है।' गांधीजी ने कहा 'जिस रोज मेरा नींद पर से काबू गया तो समझो कि मेरा शरीरपात होगा।'

गांधीजी को बीमारों की सेवा का बड़ा शौक है। यह शौक बचपन से ही है। अफ्रीका में सेवा के लिए उन्होंने न केवल नर्स का काम किया बल्कि एक छोटा-मोटा अस्पताल भी चलाया यद्यपि अपनी 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पोथी में एक दृष्टि से उन्होंने अस्पतालों की निंदा भी की है। बीमारों की सेवा का वह शौक आज भी उनमें ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह केवल सेवा तक ही रस लेते हैं ऐसा नहीं है। चिकित्सा में भी रस लेते हैं और सीधी-सादी चीजों के प्रयोग से क्या काम हो सकता है इसकी खोज बराबर जारी ही रहती है।

कोई अत्यन्त बीमार पड़ा हो और मृत्यु-शय्या पर हो और गांधीजी से मिलना चाहता हो तो असुविधा और कष्ट बर्दाश्त करके भी रोगी से मिलने जाते हैं। मैंने कई मर्तबा उन्हें ऐसा करते देखा है और एक-दो घटनाएं तो ऐसी भी देखी हैं कि उनके जाने से रोगियों को बेहद राहत मिली।

बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दिल्ली की घटना है। एक मरणासन्न रोगिणी थी। रोग से संग्राम करते-करते बेचारी के शरीर का ह्रास हो चुका था। केवल सांस बाकी थी। उसने जीवन से विदाई ले ली थी। और लम्बी यात्रा करना है ऐसा मानकर राम-राम करते अपने अंतिम दिन काट रही थी। पर गांधीजी से अपना अंतिम आशीर्वाद लेना बाकी था। रोगिणी ने कहा 'क्या गांधीजी के दर्शन भी हो सकते हैं? जाते-जाते अंत में उनसे तो मिल लूं।' गांधीजी तो दिल्ली के पास भी नहीं थे इसलिए उनका दर्शन असम्भव था। पर मरते प्राणी की आशा पर पानी फेरा। मैंने उचित

नहीं समझा इसलिए मैंने कहा "देखेंगे तुम्हारी इच्छा ईश्वर शायद पूरी कर देगा।"

दो ही दिन बाद मुझे सूचना मिली कि गांधीजी कानपुर से दिल्ली होते हुए अहमदाबाद जा रहे हैं। उनकी गाड़ी दिल्ली पहुंचती थी सुबह चार बजे। अहमदाबाद की गाड़ी पांच बजे छूट जाती थी। केवल घंटेभर की फ़ुरसत थी। और रुग्णा बधारी दिल्ली से दस मील के फ़ासले पर थी। घंटेभर में रोगी से मिलना और वापस स्टेशन आना, यह दुश्वार था।

जाड़े का मौसम था। हवा तेज़ी से चल रही थी। मोटरगाड़ी में—उन दिनों खुली गाड़ियां हुआ करती थीं—गांधीजी को सवेरे-सवेरे बीस मील सफ़र कराना भी भयानक था। गांधीजी आ रहे हैं इसका बधारी रोगिणी को तो पता भी न था। उसकी तीव्र इच्छा गांधीजी के दर्शन करने की थी। पर इसमें कठिनाई प्रत्यक्ष थी। गांधीजी गाड़ी से उतरे। मैंने दबी ज़बान में कहा—"आप आज ठहर नहीं सकते?" गांधीजी ने कहा "ठहरना मुश्किल है।" मैं हताश हो गया। रोगी को कितनी निराशा होगी यह मैं जानता था।

गांधीजी ने उत्सुकतर पूछा—"ठहरने की क्यों पूछते हो?" मैंने उन्हें कारण बताया। गांधीजी ने कहा—"अभी अभी चलो।" "पर मैं आपको इस जाड़े में ऐसी तेज़ हवा में सुबह के वक्त मोटर में बिठाकर कैसे ले जा सकता हूं?" "इसकी चिन्ता छोड़ो। मुझे मोटर में बिठाओ। समय खोने से क्या लाभ? जल्दी चलो।" गांधीजी को मोटर में बिठाया। जाड़ा और ऊपर से पैनी हवा। ये बखूबी से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। सूर्योदय तो अभी हुआ भी न था। ब्राह्म मुहूर्त की शांति सर्वत्र विराजमान थी। रुग्णा शय्या पर पड़ी 'राम राम' कर रही थी। गांधीजी उसकी चारपाई के पास पहुंचे। मैंने कहा—"गांधीजी आए हैं।" उसे विश्वास न हुआ। हक्की-बक्की तो रह गई। सकपकाकर उठ बैठने की

कोशिश की पर शक्ति कहाँ थी ? उसकी आँखों से दो बूँद चुपचाप गिर गईं । मैंने सोचा मैंने अपना कर्तव्य पालन कर दिया ।

रोगिणी की आत्मा को क्या सुख मिला यह उसकी आँखें बता रही थीं ।

गांधीजी की गाड़ी तो छूट चुकी थी इसलिए मोटर से सफर करके आगे के स्टेशन पर गाड़ी पकड़ी । गांधीजी को कष्ट तो हुआ पर रोगी को जो शांति मिली उस सन्तोष में गांधीजी को कष्ट का कोई अनुभव नहीं था ।

थोड़े दिनों बाद रोगिणी ने संसार से विदा ली पर मरने से पहले उसे गांधीजी के दर्शन हो गये इससे उसे बेहद शान्ति थी ।

हम भूखे को अन्न देते हैं प्यासे को पानी देते हैं उसका माहात्म्य है । रन्तिदेव और उसके बाल-बच्चों ने स्वयं भूखे रहकर जिस तरह भूखे को रोटी दी इसका माहात्म्य हमारे पुराण गाते हैं । पर जब मरणासन्न प्राणी है अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है चाहता है कि एक पूज्य व्यक्ति के दर्शन कर लूँ । उस दर्शन से भूखे रोगी की भूख तृप्त होती है, उसे सन्तोष दान मिलता है इस दान का माहात्म्य कितना होगा ?

२०

गांधीजी इकहत्तर में हो चले !

पच्चीस साल पहले जब मुझे उनका प्रथम दर्शन हुआ तब वह प्रौढ़ावस्था में थे आज वृद्ध हो गये। उस समय की सूरत-वेशभूषा का आज की सूरत-वेशभूषा से मिलान किया जाय तो बड़ा भारी अन्तर है। हम जब एक वस्तु को रोज रोज देखते रहते हैं तो जो दैनिक परिवर्तन होता है उसको हमारी आँखें पकड़ नहीं सकतीं। परिवर्तन चोर की तरह आता है। इसलिए, गांधीजी के शरीर में उनकी बालचाए में उनकी वेशभूषा में कब और कैसे परिवर्तन हुआ यह आज किसीको स्मरण भी नहीं है। मैंने जब गांधीजी को पहले-पहल देखा तब वह अंगरखा पहनते थे। फिर कुर्ता पहनने लगे और साफे की जगह टोपी ने ले ली। एक सभा में व्याख्यान देते-देते कुर्ता भी फेंक दिया तब से घुटनों तक की धोती और ओढ़ने की चादरमात्र रह गई।

पहले चोटी बिलकुल नहीं रखते थे। हरिद्वार के कुंभ पर एक साधु ने कहा "गांधी न यज्ञोपवीत न चोटी? हिन्दू का कुछ तो चिह्न रखो।" तब से गांधीजी ने शिखा धारण करली। और वह एक खासी गुच्छेदार शिखा थी। एक रोज अचानक सिर की तरफ मेरी नजर पड़ी तो देखता हूँ शिखा नहीं है। शिखा के स्थान के सब बाल धीरे-धीरे उड़ चले और जो शिखा धारण की गई थी वह भस्म मात्र हो विदा हो गई। शिखा के अभाव ने मुझे याद दिलाया कि जिन पचीस सालों में एक-एक चीज पैदा हुई थी उन्हींमें धीरे-धीरे वे सब विलीन हो गये हैं। दांत सारे चल दिये पर बच-बच

गये कैसे-कैसे चुपके-से चलते गये इसका पास रहनेवालों को भी कभी ख्याल नहीं है।

लोगों का अपने जीवन में यश-अपयश दोनों मिले हैं। कभी लोकप्रियता आई कभी चली गई। ड्यूक आफ वेलिंग्टन नेपोलियन विजयराघवी इत्यादि राजनैतिक नेताओं ने अपने जीवन में उतार-चढ़ाव सब कुछ देखा। पर गांधीजी ने चढ़ाव ही-चढ़ाव देखा उतार कभी देखा ही नहीं। अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये। हर क्षेत्र में कुछ-न-कुछ दान किया। साहित्यिक क्षेत्र भी इस दान से न बचा। कितने नये ढंग रच कितने नये प्रयोग चलाये लक्षलक्षी पर क्या असर डाला इसका तलपट भी कभी लगेगा।

किसीने मिसेज बेसेंट से पूछा था कि हिन्दुस्तान में हमारी सबसे बड़ी बुराई कौन-सी है? मिसेज बेसेंट ने कहा हिन्दुस्तान में लोग दूसरे को गिराकर चढ़ने की कोशिश करते हैं यह सबसे बड़ी बुराई है। चाहे यह सबसे बड़ी बुराई हो या न हो पर इस तरह की बुराई राजनैतिक क्षेत्र में अक्सर यहां पाई जाती है। पर गांधीजी ने समाज में खोज-खोजकर हीरा निकाला। उन्होंने छान छानकर माना जमा किया। सरदार वल्लभभाई को बनाने का श्रेय गांधीजी का है। राजगोपालाचार्यजी को राजेन्द्र बाबू को गढ़ा गांधीजी ने। सैकड़ों दिग्गज और लाखों [illegible] गांधीजी ने पैदा किये। कराची मर्दों दयावालियों में [illegible] [illegible] मामूली आदमियों को छोटे-छोटे [illegible] [illegible] [illegible] चिड़ियों से भी बाज लड़ाई तब

जैसे अंगूरी को पानी" ऐसे आयु बीतती जा रही है । पर गांधीजी लिखते हैं बोलते हैं हमारा सचालन करते हैं इसलिए उनके शारीरिक शैथिल्य का हमें कोई ज्ञान भी नहीं है । हमने मान लिया है कि गांधीजी का और हमारा सदा का साथ है । ईश्वर करे, वह चिरायु हों !

यदि कोई अपनी जवानी देकर गांधीजी को जिंदा रख सके तो हजारों युवक अपना जीवन देने के लिए उद्यत हो जाय । पर यह तो अनहोनी कल्पना है ।

अंत में फिर प्रश्न आता है गांधीजी का जीवनचरित्र क्या है ?

राम की जीवनी को किसी कवि ने एक ही श्लोक में जनता के सामने रख दिया है

> आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनं ।
> वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसंभाषणम् ।
> बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनं ।
> पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननम् एतद्धि रामायणम् ॥

गांधीजी की जीवनी भी शायद एक ही श्लोक में लिखी जा सके क्योंकि एक ही चीज आदि से अंत तक मिलती है—अहिंसा अहिंसा । खादी कहो या हरिजन-कार्य ये अहिंसा के प्रतीक हैं । पर एक बात है । राम के जीवन को अंकित करनेवाला श्लोक अंत में बताता है 'पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननम्' । क्या हम गांधीजी के बारे में

> आदौ मोहन इंग्लैंडगमनं विद्याविशेषार्जनम्
> अफ्रीकागमनं दुर्नीतिदमनं सत्याग्रहाम्दोलनम्
> पश्चाद् भारतभूमये प्रयतनं खादी स्वाहिंसामयम्
> मद्यनिषेधनं स्वराज्यवरणं ..

इत्यादि इत्यादि कहकर अंत में कह सकते हैं पारतन्त्र्य विनाशनम् ?

कौन कह सकता है ? गोपाजी अभी जिन्दा हैं ।

थोड़े ही दिन पहले चीन-निवासी एक विशिष्ट सज्जन ने उनसे प्रश्न किया 'क्या आप अपने जीवन में भारत को स्वतन्त्र देखने की आशा करते हैं?' "हाँ करता तो हूँ। यदि ईश्वर को मुझसे और भी काम लेना है तो जरूर मेरे जीवन-काल में भारत स्वतन्त्र होगा। पर यदि ईश्वर ने मुझे पहले ही उठा लिया तो इससे भी मुझे कोई सदमा नहीं पहुँचेगा।

पर कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा?

को जाने कल की?

परिशिष्ट

गांधीजी मानव के रूप में

गांधीजी का मेरा प्रथम संपर्क १९१५ के आखीर में हुआ। वह दक्षिण अफ्रीका से नए-नए ही आये थे और हम लोगों ने उनका एक बृहत् स्वागत करने का आयोजन किया था। मैं उस समय केवल २७ साल का था। गांधीजी की उस समय की शकल यह थी—सिर पर काठियावाड़ी साफा, एक लम्बा अंगरखा, गुजराती ढंग की धोती और पांव बिल्कुल नंगे। यह तस्वीर आज भी मेरी आंखों के सामने ज्यों-की-त्यों नाचती है। हमने कई जगह उनका स्वागत किया। उनके बोलने का ढंग, भाषा और भाव बिल्कुल ही अनोखे मालूम दिये। बोलने में न जोश, न कोई अतिशयोक्ति, न कोई नमक-मिर्च। सीधी सादी भाषा।

१९१५ में जो संपर्क बना वह अन्त तक चलता ही रहा और इस तरह ३२ साल का गांधीजी के साथ अमूल्य संपर्क मुझपर एक पवित्र छाप छोड़ गया है, जो मुझे तमाम आयु स्मरण रहेगा। उनका सत्य, उनका भोलापन, उनकी अहिंसा, उनका शिष्टाचार, उनकी आत्मीयता, उनकी व्यवहार-कुशलता इन सब चीजों का मुझपर दिन प्रति-दिन असर पड़ता गया और धीरे-धीरे मैं उनका भक्त बन गया। जब समालोचक था तब भी मेरी उनमें श्रद्धा थी। जब भक्त बना तो श्रद्धा और भी बढ़ गई। ईश्वर की दया है कि ३२ साल का मेरा एक महान आत्मा का संपर्क अन्त तक निभ गया। मेरा यह सद्भाग्य है।

गांधीजी को मैंने सन्त के रूप में देखा, राजनैतिक नेता के रूप में देखा और मनुष्य के रूप में भी देखा। मेरा यह भी

ख्याल है कि अधिक लोग उन्हें सन्त या नेता के रूप में ही पहचानते हैं। लेकिन जिस रूप ने मुझे मोहित किया वह तो उनका एक मनुष्य का रूप था न नेता का और न सन्त का। उनकी मृत्यु पर अनेक लोगों ने उनकी दुःख-गाथाएं गाई हैं और उनके अद्भुत गुणों का वर्णन किया है। मैं उनके क्या गुण गाऊं? पर वह किस तरह के मनुष्य थे यह मैं बता सकता हूं।

मनुष्य क्या थे वह कमाल के आदमी थे। राजनैतिक नेता की हैसियत से वह अत्यंत व्यवहार-कुशल तो थे ही। किसीसे मैत्री बना लेना यह उनके लिए चन्द मिनटों का काम था। द्वितीय राउंड टेबिल कांफ्रेंस में जब वह इंग्लैंड गये थे उनके कट्टर दुश्मन सेम्युल होर से मैत्री हुई तो इतनी कि अन्त तक दोनों मित्र रहे। लिनलिथगो से उनकी न निभी पर यह दोष सारा लिनलिथगो का ही था। गांधीजी ने मैत्री रखने में कोई कसर न रखी। जिनसे गांधीजी मैत्री रखते छोटी चीजों में वे उनके गुलाम बन जाते थे। पर जहां सिद्धान्त की बात आती थी वहां डट के लड़ाई होती थी। पर उसमें भी वह कटुता न लाते थे। लन्दन में जितने रोज रहे बिना सैम्युल होर की आज्ञा के कोई वक्तव्य या व्याख्यान देना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लिनलिथगो से भी कई बातों में ऐसा ही सम्बन्ध था।

निर्णय करने मे वह न केवल दक्ष थे पर साहसी भी थे। चोरीचौरा के कांड को लेकर सत्याग्रह का स्थगित करना और हिमगिरि जितनी अपनी बड़ी भूल मान लेना इसमें काफी साहस की जरूरत थी। सत्याग्रह स्थगित करने पर वह लोगों के रोष के शिकार बने गालियां खाई मित्रों को काफी निराश किया पर अपना दृढ़ निश्चय उन्होंने नहीं छोड़ा। १९३७ में कांग्रेस ने जब गवर्नमेंट बनाना स्वीकार किया तब गांधीजी के निश्चय से ही प्रभावान्वित होकर कांग्रेस ने ऐसा किया। गांधीजी ने जहां कदम बढ़ाया सब पीछे चल पड़े। कांग्रेस-नायकों मे उस समय झिझक थी वे शंकाशील थे। १९४२ में जबकि

क्रिप्स आए तब हाल इसके विपरीत था। कांग्रेस के कुछ नेता चाहते थे कि क्रिप्स की सलाह मान ली जाय और क्रिप्स-प्रस्ताव स्वीकार किया जाय। पर गांधीजी टस-से-मस न हुए, बल्कि उन्होंने 'हिंदुस्तान छोड़ो' की धुन छेड़ी और अड़ पड़े। इस समय भी उन्होंने निर्णय करने में काफी साहस का परिचय दिया।

मुझे याद आता है कि राजनीति में उस समय करीब करीब सन्नाटा था। लोगों में एक तरह की थकान थी। नेताओं में प्रायः एकमत था कि जनता लड़न के लिए उत्सुक नहीं है।

बिहार से एक नेता आए। गांधीजी ने उनसे पूछा—जनता में क्या हाल है? क्या जनता लड़ने को तयार है? बिहारी नेता ने कहा—जनता में कोई तयारी नहीं है कोई उत्साह नहीं है। पीछे रुककर उन्होंने कहा कि मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक मर्तबा नारद विष्णु के पास गये। विष्णु ने नारद से पूछा—नारद ज्योतिष के अनुसार वर्षा का कोई ढंग दीखता है? नारद ने पचांग देखकर कहा कि वर्षा होने की कोई संभावना नहीं है। नारद ने इतना कहा तो सही पर विष्णु के घर से बाहर निकले तो वर्षा से सुरक्षित होने के लिए अपनी कमली ओढ़ ली।

विष्णु ने पूछा—नारद कम्बल क्यों ओढ़ते हो? नारद ने कहा—मैंने ज्योतिष की बात बताई है पर आपकी इच्छा क्या है यह तो मैं नहीं जानता। अन्त में जो आप चाहेंगे वही होने वाला है। इतना कहकर उन बिहारी नेता ने कहा—बापू जनता में तो कोई जान नहीं है पर आप चाहेंगे तो जान भी आ ही जायगी। यह बिहारी नेता थे सत्यनारायण बाबू जो अब सरकार की असेम्बली में मुख्य सचेतक हैं। जो उन्होंने सोचा था वही हुआ। जनता में लड़ने की कोई उत्सुकता न थी पर बिगुल बजते ही लड़ाई ठनी तो ऐसी कि अत्यंत भयंकर।

पर यह तो मैंने उनकी नेतागिरी और राजकौशल की बात बताई। इतने महान होते हुए भी किस तरह छोटों की सी उन्हें चिन्ता थी वह आत्मीयता उनकी देखने लायक थी। यह चीज उनके पास एक ऐसे रूप में थी कि जिसके कारण लोग उनके बदाम गुलाम बन जाते थे। उनके पास रहनेवाले को यह डर रहता था कि बापू किसी भी कारण अप्रसन्न न हों और यह भय इसलिए नहीं था कि वे महान् व्यक्ति थे पर इसलिए कि मनुष्य में जो सहृदयता और आत्मीयता होनी चाहिए वह उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

बहुत वर्षों की बात है। करीब २२ साल होगये। जाड़े का मौसम था। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। गांधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पहुंची। मैं उन्हें मिलने गया। पता चला कि एक घंटे बाद ही जानेवाली गाड़ी से वह अहमदाबाद जा रहे हैं। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा—एक दिन ठहरकर नहीं जा सकते? उन्होंने कहा—क्यों मुझे जाना आवश्यक है? मैं निराश होगया। उन्होंने फिर पूछा—क्यों? मैंने कहा—घर में कोई बीमार है। मरणासन्न अवस्था पर है। आपके दर्शन करना चाहती थी। गांधीजी ने कहा—मैं अभी चलूंगा। मैंने कहा—मैं इस जाड़े में इस समय आपको कष्ट नहीं दे सकता। उन

परचुर शास्त्री एक साधारण ब्राह्मण थे। उन्हें कुष्ठ था। उनको गांधीजी ने अपने आश्रम में रखा सो तो रखा पर रोजमर्रा उनकी तेल की मालिश भी स्वयं अपने हाथों करते थे। लोगों को डर था कि कहीं कुष्ठ गांधीजी को न लग जाय। पर गांधीजी को इसका कोई भय न था। उनको ऐसी चीजों से अत्यन्त सुख मिलता था।

४२ के शुरू में मैं वर्धा गया। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझसे कहा—तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा मालूम देता है। इसलिए मेरे पास सेवा-ग्राम आ जाओ और यहां कुछ दिन रहो। मैं तुम्हारा उपचार करना चाहता हूं। मैंने कहा—वर्धा ठीक है। सेवा-ग्राम में क्यों आपको कष्ट दूं। मुझे संकोच तो यह था कि सेवाग्राम में पाखाना साफ करने के लिए कोई मेहतर नहीं होता। वहांपर टट्टी की सफाई आश्रम के लोग स्वयं करते हैं। जहां मुझे ठहराना निश्चित किया गया था वहां की टट्टी महादेवभाई साफ किया करते थे। मैंने उन्हें अपना संकोच बताया कि क्यों मैं सेवाग्राम नहीं जाना चाहता था। मैं स्वयं अपनी टट्टी साफ नहीं कर सकता और यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि महादेवभाई जैसा विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मण उसको साफ करे। गांधीजी को मेरा संकोच निरा वहम लगा। पाखाना उठाना क्या कोई नीच काम है? महादेवभाई ने भी मजाक किया परन्तु मेरे आग्रह पर मेहतर रखना स्वीकार कर लिया गया। आगाखां पैलेस में जब उनका उपवास चलता था तो मैं गया। बड़े दुर्बल थे। बोलने की शक्ति करीब-करीब नहीं के बराबर थी। मैंने सोचा कि कुछ राजनीतिक बातें करूंगा पर आश्चर्य हुआ। पहुंचते ही हम सबका कुशल-मंगल, छोटे-छोटे बच्चों के बारे में सवाल और घर-गृहस्थी की बातें। इसीमें काफी समय लगा दिया। मैं उनको रोकता जाता था कि आपमें शक्ति नहीं है मत बोलिये पर उनको इसकी कोई परवाह नहीं थी।

इस तरह की उनकी आत्मीयता थी जिसने हजारों को उनका दास बनाया। नेता बहुत देखे सन्त भी बहुत देखे मनुष्य भी देखे पर एक ही मनुष्य में सन्त, नेता और मनुष्य की ऊंचे दर्जे की आत्मीयता मैंने और कहीं नहीं देखी। मैं गांधीजी का कायल हुआ तो उनकी आत्मीयता का। यह सबक है जो हर मनुष्य के सीखने के लायक है। यह एक मिठास है जो कम लोगों में पाई जाती है।

गांधीजी करीब पौने पांच महीने बाद इस मर्तबा हमारे घर में रहे। जैसा कि उनका नियम था उनके साथ एक बड़ी बारात आती थी। नए-नए लोग आते थे और पुराने जाते थे। भीड़ बनी रहती थी। घर तो उनके ही सुपुर्द था। किंतु मेहमान उनके ऐसे भी आते जो मुझे पसन्द नहीं थे जो उनके पासवालों को भी पसन्द नहीं थे। बम गिरने के बाद बहुतों ने उन्हें बरोक-टोक भीड़ में घुस जाने से मना किया। सरदार वल्लभभाई न उनके लिए करीब ३० मिलिटरी पुलिस और १५-२ खुफिया बिड़ला-हाउस में तैनात कर रक्खे थे जो भीड़ म इधर उधर फिरते रहते थे पर मैं जानता था इस तरह स उनकी रक्षा हो ही नहीं सकती। जो लोग आते थ उनकी तलाशी लेने का विचार पुलिस ने किया मगर गांधीजी ने रोक दिया। हर सवाल का एक ही जवाब उनके पास था— मेरा रक्षक तो राम है।

चिन्ता पैदा की। उपवास के समय मैंने काफी बहस की। मैंने कहा—मेरा आपका ३२ वर्ष का संपर्क है। आपके अनेक उपवासों में मैं आपके साथ रहा हूं। मुझे लगता है कि आपका यह उपवास सही नहीं है पर गांधीजी अटल थे। यह कहना भी गलत है कि गांधीजी आस-पास के लोगों से प्रभावित नहीं होते थे। बुद्धि का द्वार उनका सदा खुला रहता था। बहस करनेवाले को प्रोत्साहन देते थे और उसमें जो सार होता उसे ले लेते थे चाहे वह कितने ही छोटे व्यक्ति से क्यों न मिलता हो। बार-बार बहस करते-करते मुझे लगा कि उनके उपवास के टूटने के लिए काफी सामग्री पैदा हो गई है। मुझे बम्बई जाना था। जरूरी काम था। मैंने कहा "मैं बंबई जाना चाहता हूं। मुझे लगता है कि अब आपका उपवास टूटेगा। न टूटनेवाला हो तो मैं न जाऊं।" मैंने यह प्रश्न जान-बूझकर उन्हें टटोलने के लिए किया। उन्होंने मजाक शुरू किया। कहा— "जब तुम्हें लगता है कि उपवास का अन्त होगा तो फिर जाने में क्या रुकावट है? अवश्य जाओ। मुझसे क्या पूछना है?" मैंने कहा—मुझे तो उपवास का अन्त लगता है पर आपको लगता है या नहीं यह कहिये। उन्होंने मजाक जारी रखा और साफ उत्तर न देकर फन्दे में फंसने से इन्कार किया। मैंने कहा—नचिकेता यम के घर पर भूखा रहा तो यम को क्लेश हुआ क्योंकि ब्राह्मण घर में भूखा रहे तो पाप लगता है। आप यहां उपवास करते हैं तो मुझपर पाप चढ़ता है। इसलिए अब इसका अन्त होना चाहिए। गांधीजी ने कहा—मैं ब्राह्मण कहां हूं। पर आप तो महाब्राह्मण हैं। इसपर बड़ा मजाक रहा। मैंने कहा—अच्छा आप यह आशीर्वाद दीजिए कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपके उपवास टूटने की खबर बम्बई में सुनूं। फिर भी उनका मजाक तो जारी ही रहा। मैंने कहा—अच्छा यह बताइए कि आप जिन्दा रहना चाहते हैं या नहीं? उन्होंने कहा—हां यह कह सकता हूं कि

मैं जिन्दा रहना चाहता हूं। बाकी तो मैं राम के हाथ में हूं। उपवास तो समाप्त हुआ लेकिन राम ने उन्हें छोड़ा नहीं।

सुबह को करीब सवा पांच बजे गांधीजी को गोली लगी और उसी दम उनका देहान्त होगया। मैं उस समय पिलानी था। करीब ६ बजे कालेज के छात्र दौड़ते हुए आये और उन्होंने रेडियो की खबर बताई कि किस तरह गांधीजी चल बसे। सन्नाटा छा गया।

मैंने रात को ही वापस आने की ठानी पर मालूम हुआ कि सबेरे वायुयान से जाने से हम जल्दी पहुंच सकेंगे। सोया, पर रातभर बनी नहीं। स्वप्न आने लगे। मानो मैं दिल्ली पहुंच गया। पहुंचते ही बापू के कमरे में गया तो देखता हूं जहां बापू सदैव थे वहीं मृतक अवस्था में लेटे पड़े हैं। पास में प्यारेलाल और सुशीला बैठे हैं। मैंने जाकर प्रणाम किया। मेरे लगते गांधीजी उठ बैठे। कहने लगे— अच्छा हुआ तुम आगये। यह किसी नादान का काम नहीं है। यह तो गहरा षड्यन्त्र था। पर मैं तो प्रसन्नता के मारे अब नाचूंगा क्यों कि मेरा काम तो अब समाप्त हो गया। फिर कुछ इधर-उधर की बातें करते रहे। अन्त में घड़ी निकालकर कहने लगे अब तो ११ बज गये हैं। अब तो तुम मुझे श्मशान घाट ले जाओगे [illegible] आता है। इतना कहकर फिर लेट गये।

[illegible] मैंने बापू को बताया रूप में नहीं देखा मैं